सामान्य श्रावकाचार

आगम के आलोक में

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

सामान्य श्रावकाचार

(आगम के आलोक में)

© लेखक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए.बी.एड.

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

श्री टोडरमल स्मारक भवन

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

सामान्य श्रावकाचार	:	पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
हिन्दी		
प्रथम दस संस्करण	:	52 हजार 800
(25 मई, 1991 से अद्यतन)		
ग्यारहवाँ संस्करण	:	1 हजार
(11 नवम्बर, 2015)		
महापर्व दीपावली		
योग	:	**53 हजार 800**
मराठी		
प्रथम दो संस्करण :	:	9 हजार
गुजराती		
प्रथम संस्करण :	:	3 हजार 200
कन्नड़		
प्रथम संस्करण :	:	1 हजार
जैनपथप्रदर्शक–सम्पादकीय	:	3 हजार 200
महायोग :		**78 हंजार 200**

मूल्य : दस रुपये मात्र

मुद्रक :
सन् एन सन् ऑफसैट
तिलकनगर, जयपुर (राज.)

प्रकाशकीय

(ग्यारहवाँ संस्करण)

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन ने अपने शैशवकाल में ही अपनी अलग पहचान बना ली है। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आज सारे देश में इसकी 312 शाखायें एवं 12,938 सक्रिय कार्यकर्त्ता सदस्य हैं।

युवापीढ़ी की आधुनिक शैली, खान-पान, रहन-सहन देखकर तथा वर्तमान वातावरण और आसपास के परिवेश को देखकर पुरानी पीढ़ी की यह चिन्ता स्वाभाविक ही थी कि अब धर्म और धर्मायतनों की सुरक्षा कैसे होगी? पर फैडरेशन ने उसके कार्य-कलापों से उन्हें निश्चिन्त कर दिया।

फैडरेशन के प्रयासों से आज गाँव-गाँव में नवयुवक धार्मिक कार्यों में रुचि लेने लगे हैं, स्वाध्याय में संलग्न हुए हैं। इसतरह अपनी निराश पुरानी पीढ़ी के हृदयों में आशा का संचार कर दिया है। उन्हें ऐसा लगने लगा है कि अब आगामी पीढ़ी धर्मकार्यों में पीछे नहीं रहेगी।

सारे देश में घूम-घूम कर जन-जन तक जिनवाणी का संदेश पहुँचाने का संकल्प लिए श्रावाकाचार-शाकाहार रथ का परिभ्रमण इसका प्रबल प्रमाण है। फैडरेशन ने सत्साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में पूजन-विधान साहित्य एवं सदाचार संबंधी साहित्य प्रकाशित करने का संकल्प किया है। यह सामान्य श्रावकाचार भी फैडरेशन की ग्रन्थमाला का ही 39वाँ सुरभित पुष्प है। जो निश्चित ही जन-जन में अपनी सुरभि बिखरेगा।

हमारे अनुरोध को स्वीकार कर विद्वद्वर्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने प्रस्तुत कृति में जिनागम में उपलब्ध सम्पूर्ण (40) श्रावकाचारों का अध्ययन कर उनमें से सार तत्त्व निकाल-निकाल कर गागर में सागर भर दिया है। एतदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं।

पुस्तक अत्यन्त सरल भाषा व सुबोध शैली में लिखी गई है। आबाल-वृद्ध सबके लिए अत्यधिक उपयोगी है। अधिकतम व्यक्ति इससे लाभान्वित हों - यही मेरी भावना है, अब तक अल्प अवधि में तीन भाषाओं में ग्यारह संस्करणों में 78 हजार प्रतियाँ प्रकाशित होना इसकी लोकप्रियता का सशक्त प्रमाण है।

2 अक्टूबर, 2015

- परमात्मप्रकाश भारिल्ल

महामंत्री

सामान्य श्रावकाचार पुस्तक की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1.	श्रीमती पुष्पलता जैन (जीजीबाई) ध.प. अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा (म.प्र.)	501.00
2.	श्री अमित जैन, दिल्ली	501.00
3.	श्री आनन्दकुमारजी जैन, खुरई (म.प्र.)	251.00
4.	श्रीमती देवयानी ध.प. महेन्द्र सी. बीमावाला, आनन्द (गुज.)	251.00
5.	श्री मनोजकुमार अजयकुमारजी बगेला, सागर (म.प्र.)	251.00
6.	श्रीमती कोमलबाई दीपचन्दजी जैन, बड़जात्या, इन्दौर (म.प्र.)	251.00
7.	श्री मदनलालजी पाटनी, मुम्बई	251.00
8.	श्री भागचन्दजी कालिका, उदयपुर (राज.)	251.00
9.	श्री कैलाशचन्दजी जैन, ठाकुरगंज (बिहार)	251.00
10.	श्री राजेश जैन, रावतभाटा	250.00
11.	डॉ. संतोष पाटीदार, खरगोन (म.प्र.)	250.00
12.	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी (आसाम)	151.00
		कुल 3,410.00

अपनी बात

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन ने सन् 1991-92 वर्ष को शाकाहार श्रावकाचार वर्ष के रूप में मनाने का निर्णय लिया था। समाज के उत्साह को देखकर जिसका समय बाद में बढ़ाकर महावीर जयन्ती, 1993 ई. तक कर दिया था।

उक्त संदर्भ में शाकाहार सम्बन्धी एक पुस्तक डॉ. भारिल्ल ने लिखी थी, मुझसे अपेक्षा की गई थी कि मैं भी आगम के आलोक में सामान्य श्रावकाचार पर एक सरल-सुबोध पुस्तक लिखूँ।

जब मैं 'णमोकार महामंत्र' पुस्तक लिख रहा था, तब डॉ. शुद्धात्मप्रभा ने भी मुझसे कहा था कि "दादा! आप श्रावकाचार पर भी एक ऐसी पुस्तक लिखो, जिसमें सामान्य श्रावकाचार का विस्तृत विवेचन हो, मनुष्यपर्याय में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पूर्व की पृष्ठभूमि कैसी होती है, धर्म धारण करने की पात्रता कैसी होनी चाहिए? - यह बात अच्छी तरह उभर कर सामने आ जाये।"

मुझे उनकी यह बात अच्छी लगी। मैंने भी इस तरह की पुस्तक की कमी का गहराई से अनुभव किया, जिसमें एक ही स्थान पर सामान्य श्रावक की सम्पूर्ण आचार संहिता श्रावकों को उपलब्ध हो सके। पर चाहने मात्र से कुछ नहीं होता; जबतक जिस कार्य के सम्पन्न होने का समय नहीं आता, तबतक वैसे कारण-कलाप भी नहीं मिलते।

शाकाहार-श्रावकाचार वर्ष में यह बनाव सहज ही बन गया। इस निमित्त से मुझे सभी लगभग (40) श्रावकाचारों का गहराई से अध्ययन करने का सुअवसर मिला, जिससे मुझे तद्विषयक ज्ञान लाभ तो मिला ही, परिणामों में विशुद्धि अपने से आचरण में आंशिक निर्मलता भी आई। इसका मुझे अति हर्ष है। मुझे विश्वास है, पाठक इसे पाकर प्रसन्न होंगे और वे इस कृति का अधिकतम लाभ लेकर मेरे श्रम को सार्थक करेंगे।

जैसी मुझे आशा थी, विश्वास था कि पाठक अन्य कृतियों की भाँति इसे भी अपनायेंगे, पढ़ेंगे। मेरे लिए यह उत्साहवर्द्धक बात है कि नौ वर्ष की अल्प अवधि में ही इसकी 71 हजार 200 प्रतियाँ पाठकों तक पहुँच चुकीं हैं और दो हजार का यह आठवाँ संस्करण पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। गुजराती, कन्नड़ व मराठी में भी यह कृति छप चुकी है।

– रतनचन्द भारिल्ल

लेखक के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
०१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)(उपन्यास)	६१ हजार ५००	३०.००
०२.विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	२ लाख ११ हजार	१५.००
०३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	५८ हजार	२०.००
०४. सुखी जीवन (हिन्दी, मराठी) (पंचम संस्करण)	२६ हजार	२०.००
०५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	७२ हजार ५००	१०.००
०६. जिनपूजन रहस्य (हि.,म., गु., क.)	७७ हजार २००	१०.००
०७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु.,क.)	७८ हजार २००	१०.००
०८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी)	१० हजार	७.००
०९. बालबोध पाठमाला भाग-१(हि.म.गु.क.त.अं.)	४ लाख १३ हजार २००	३.००
१०. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (दो संस्करण हिन्दी)	८ हजार	३.००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)	३ हजार	४.००
१२. द्रव्यदृष्टि	५ हजार	४.००
१३. हरिवंश कथा (छह संस्करण)	१६ हजार	४०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन (दो संस्करण)	५ हजार	४.००
१५. शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध (पाँच संस्करण)	१० हजार	४०.००
१६. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध (चार संस्करण)	७ हजार	५०.००
१७. ऐसे क्या पाप किए (पाँच संस्करण) निबंध	१६ हजार ५००	२५.००
१८. नींव का पत्थर (उपन्यास)(पाँच संस्करण)	१८ हजार	१४.००
१९. पंचास्तिकाय (पद्यानुवाद)	५ हजार	३.००
२०. तीर्थंकर स्तवन	५ हजार	१.००
२१. साधना-समाधि और सिद्धि (दो संस्करण)	५ हजार	५.००
२२. चलते फिरते सिद्धों से गुरु (दो संस्करण)	१० हजार	१८.००
२३. जान रहा हूँ देख रहा हूँ (कहानियाँ)चार संस्करण	११ हजार	१२.००
२४. पंचास्तिकाय परिशीलन	३ हजार	५०.००
२५. यदि चूक गये तो (चार संस्करण)	६ हजार	१५.००
२६. जिन खोजा तिन पाइयाँ (तीन सस्करण)	५ हजार	१५.००
२७. ये तो सोचा ही नहीं (उपन्यास)(पाँच संस्करण)	१२ हजार	२०.००
२८. जम्बू से जम्बू स्वामी	६ हजार	७.००

सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी) –

२९ से ३९. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)		१६०.००
४०. सम्यग्दर्शन प्रवचन	३ हजार	१५.००
४१. भक्तामर प्रवचन	३५ हजार ४००	२०.००
४२. समाधिशतक प्रवचन	३ हजार	२५.००
४३. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा ९९ से १०२)	८ हजार २००	८.००
४४. गागर में सागर (प्रवचन)	२३ हजार ६००	७.००
४५. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	१ लाख ५८ हजार	५.००
४६. गुणस्थान-विवेचन	३२ हजार ५००	३५.००
४७. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह)	२८ हजार २००	१५.००
४८. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह)	१२ हजार	१५.००
४९. अध्यात्म वरणी (तारण स्वामी)		
५० से ५४. जैनपथप्रदर्शक के ५ विशेषांक –		
(आ. श्री कुन्दकुन्द, श्रीकानजीस्वामी, श्री बाबूभाई, श्री रामजीभाई एवं श्री खेमचन्दभाई)		

क्या/कहाँ

1. प्राथमिक पृष्ठभूमि	9
2. आगम में अष्ट मूलगुणों के विविधरूप	11
3. मूलगुणों के विभिन्न कथनों का समन्वय	18
4. मूलगुणों का उपदेश आवश्यक क्यों ?	20
5. मूलगुणों का वर्गीकरण	23
6. श्रावकधर्म प्रतिपादन के प्रकार	25
7. मद्यत्याग	35
8. मांसत्याग	39
9. मधुत्याग	48
10. पंचउदुम्बर फलत्याग	51
11. स्थूलपापत्याग : मूलगुण	52
12. रात्रिभोजनत्याग	56
13. अनछनाजलत्याग	65
14. सप्तव्यसनत्याग	69
15. द्विदलत्याग	71
16. अभक्ष्यत्याग	73
17. देवदर्शन	75
18. पाप का बाप/धर्म का मर्म	86
19. जीवदया	89
20. जिनेन्द्रपूजन का अचिन्त्य प्रभाव	92

असीम शान्ति का अनुभव होता है

आदरणीय,

आपने मेरे लिखे अनुसार विदाई की बेला, संस्कार, इन भावों का फल क्या होगा, णमोकार मंत्र, सामान्य श्रावकाचार और सत्य की खोज भेजकर मानो मुझे अमूल्य चिन्तामणि रत्न ही दे दिया है।

सभी पुस्तकें मैंने आद्योपान्त पढ़ी प्रत्येक पुस्तक बार-बार पढ़ता हूँ, मैं आपकी ये सभी पुस्तकें सफर में भी सदैव साथ रखता हूँ। इन्हें पढ़ने में आनन्द के साथ-साथ मुझे जो ज्ञान मिला, उसकी महिमा मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। मेरे जीवन ने इन पुस्तकों के निमित्त से नया मोड़ लिया है। सचमुच मेरा तो जीवन ही पलट गया। इन पुस्तकों में जो चित्रण है, अधिकांश वह सब मेरे ऊपर घटित होता है।

उस उपकार का मैं सदैव ऋणी रहूँगा। अब जब कोई गलत ख्याल बनता है, तत्क्षण ही इन पुस्तकों की विषयवस्तु मेरे मानसपटल पर छा जाती है और सारे बुरे ख्याल तत्क्षण ही रफूचक्कर हो जाते हैं, दिल से निकल जाते हैं। और मेरे जीवन में एक नई रोशनी बिखर जाती है, असीम शान्ति का अनुभव होता है।

धन्य है इन पुस्तकों को, जिनका एक-एक वाक्य करोड़ों का है, अमूल्य है। ऐसा साहित्य मिलना, मिलने पर उसे रुचि से पढ़ना, गुनना और अपने अनुभव में लेना - एक से एक अत्यन्त दुर्लभ है।

सच पूछो तो सही जीवन जीने की कला ही मुझे इन पुस्तकों में मिल गई है। इनके बारे में जितना लिखूँ, वह सब समुद्र में राई के दाने के बराबर है। मेरी भावना है कि ऐसी पुस्तकों का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार हो।

आपका ही

सुखमालचन्द जैन
अरिहन्त गारमेण्ट्स, राजपूत मार्केट
करावलनगर रोड़, शिव विहार दिल्ली - 94

सामान्य श्रावकाचार

प्राथमिक पृष्ठभूमि -

जिनागम के निर्देशानुसार मद्य-मांस-मधु का सेवन न करना, सात व्यसनों से सदा दूर रहना, पाँचों पापों का स्थूल त्याग होना, रात्रि में भोजन न करना, बिना छने जल का उपयोग न करना, प्राणीमात्र के प्रति करुणाभाव होना और नित्य देवदर्शन व स्वाध्याय करना तो सामान्य श्रावकों का प्राथमिक कर्त्तव्य है। यद्यपि सामान्य श्रावक अभी अव्रती है, उसने अभी प्रतिज्ञापूर्वक कोई व्रत ग्रहण नहीं किया है, पर वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म को प्राप्त करने की भावना रखता है; एतदर्थ उसे उपर्युक्त प्राथमिक निर्देशों का पालन तो करना ही चाहिए। इनके बिना तो आत्मा-परमात्मा की बात समझना भी संभव नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग निज आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होता है, तत्त्वार्थश्रद्धान से उपलब्ध होता है तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु उस उपलब्धि में निमित्त होते हैं। एतदर्थ उसे भगवान आत्मा, सात तत्त्व एवं देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझना भी अत्यन्त आवश्यक है।

वर्तमान संदर्भ में, जबकि मद्य-मांस का सेवन सभ्यता की श्रेणी में सम्मिलित होता जा रहा हो, शराब शरबत की तरह आतिथ्य-सत्कार की वस्तु बनती जा रही हो, अंडों को शाकाहार की श्रेणी में सम्मिलित किया जा रहा हो, मछलियों को जलककड़ी की संज्ञा दी जा रही हो और इन सबको खाने-पीने के प्रचार-प्रसार में शासन का भरपूर सहयोग व प्रोत्साहन मिल रहा हो - ऐसी स्थिति में इन सबकी हेयता का ज्ञान कराना और इनसे होनेवाली हानियों से परिचित कराना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो गया है। इन सबका त्याग किये बिना धर्म पाना तो दूर, उसे पाने की पात्रता भी नहीं आती।

वैसे तो ब्रह्मचारी, क्षुल्लक व ऐलक जैसे संयमी आत्मसाधक भी श्रावक की ही श्रेणी में आते हैं, पर यहाँ उन प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकों के आचरण का प्रतिपादन करना अपेक्षित नहीं है। यहाँ तो प्राथमिक श्रावक के सामान्य सदाचार की चर्चा एवं समीक्षा ही अभीष्ट है।

धर्म का स्वरूप एवं सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति के लिए कैसी पात्रता होनी चाहिए? इस बात का विचार ही यहाँ सामान्य श्रावकाचार के रूप में किया जा रहा है।

सप्त व्यसनों का त्यागी और अष्ट मूलगुणों का धारी व्यक्ति ही आत्मा-परमात्मा की बात समझ सकता है, सात तत्त्वों की बात समझ सकता है, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहचान कर सकता है। अत: प्रत्येक जैन श्रावक को सप्त व्यसनों का त्यागी और अष्ट मूलगुणों का धारी होना चाहिए।

अष्ट मूलगुण : स्वरूप एवं भेद

सामान्यत: मद्य-मांस-मधु और पाँचों उदुम्बर फलों का त्याग ही अष्ट मूलगुण है। मूलगुण अर्थात् मुख्यगुण, जिनके धारण किये बिना श्रावकपना ही संभव न हो। जिसप्रकार मूल (जड़) के बिना वृक्ष का खड़ा रहना संभव नहीं है, उसीप्रकार मूलगुणों के बिना, श्रावकपना भी संभव नहीं है। ये मुख्यरूप में आठ हैं, अत: इन्हें अष्ट मूलगुण कहते हैं।

मद्य-मांस-मधु व पाँच उदुम्बर फलों का सेवन त्रस जीवों की हिंसा का हेतु होने से निर्दयता का जनक है। इनके खाने-पीने से हिंसा का महापाप तो होता ही है; बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है, व्यक्ति विवेक खो बैठता है। अत: इनका त्याग करके निर्मलबुद्धि को प्राप्त श्रावक ही जैनधर्म के उपदेश का पात्र होता है।

पहले इनका त्याग करे, तभी व्यक्ति धर्मोपदेश को ग्रहण कर सकता है। यद्यपि अष्ट मूलगुणों का कथन सर्वत्र चारित्र के प्रकरण में आया है; परन्तु जहाँ-जहाँ भी मूलगुणों का वर्णन आया है, वहाँ यह अभिप्राय अवश्य

प्रगट किया है कि जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम मद्य-मांस-मधु एवं पंच उदुम्बर फलों को छोड़ देना चाहिए।

इससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि प्रत्येक अहिंसाप्रेमी जैन को सबसे पहले अर्थात् सम्यग्दर्शन के भी पहले अष्ट मूलगुणों का धारण करना और सप्त व्यसनों का त्याग करना अनिवार्य है। इसके बिना तो सम्यग्दर्शन होना भी संभव नहीं है।

मद्य-मांस-मधु व पंच उदुम्बर फलों के त्याग के अतिरिक्त सप्त व्यसनों का त्याग भी श्रावक का प्राथमिक कर्तव्य है। सप्त व्यसन के त्याग की प्रेरणा देते हुए भूधरशतक में कविवर भूधरदास कहते हैं -

जुआ खेलना-मांस-मद, वेश्या विसन-शिकार।
चोरी-पर रमनी रमन, सातों विसन निवार ॥50॥

(1) जुआ खेलना (2) मांस खाना (3) मदिरापान करना (4) वेश्यासेवन करना (5) शिकार खेलना (6) चोरी करना (7) परस्त्री रमण करना - ये सात व्यसन हैं।

ये सातों व्यसन दु:खदायक, लोकनिंद्य, पाप की जड़ एवं दुर्गति में पहुँचानेवाले हैं।

इनका स्वरूप तो इनके नामों से ही स्पष्ट है तथा अष्ट मूलगुणों में इनमें से अधिकांश प्रकारान्तर से सम्मिलित हो जाते हैं; इसकारण मूलगुणों के प्रकरण में यथास्थान इनका स्पष्टीकरण आयेगा ही तथा इनसे तो जैनाजैन सभी लोग भली-भाँति परिचित हैं; पर अष्ट मूलगुणों से तो जैन जन भी पूर्णत: परिचित नहीं हैं। अत: यहाँ तो जैन आगम के आलोक में श्रावकाचार के रूप में मूलत: अष्ट मूलगुणों की विवेचना ही अभीष्ट है।

आगम में अष्ट मूलगुणों के विविध रूप :-

श्रावकधर्म के आधारभूत मुख्यगुणों को मूलगुण कहते हैं। मूलगुणों में मद्य-मांस-मधु व पाँच उदुम्बर फलों का त्याग – ये आठ तो हैं ही, इनके

अतिरिक्त इनके ही समान हिंसा के आयतन होने से पांचों पाप, सातों व्यसन एवं रात्रि भोजन का त्याग तथा अनछने पानी का उपयोग न करना आदि भी सम्मिलित हैं।

मूलगुणों के सन्दर्भ में जिनागम में समागत कतिपय महत्त्वपूर्ण उल्लेख इसप्रकार हैं -

मद्य-मांसं-क्षौद्रं, पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतकामैः मोक्तव्यानि प्रथमेव ॥[1]

प्राणियों के प्राण पीड़नरूप द्रव्यहिंसा का त्याग करने के इच्छुक जनों को प्रथम ही प्रयत्नपूर्वक मद्य-मांस-मधु और पांच उदुम्बर फलों का त्याग करना चाहिये।

मद्य-मांस-मधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥[2]

आगम में पाँच-उदुम्बर फल एवं मद्य-मांस-मधु के त्याग को गृहस्थों के आठ मूलगुण बतलाये हैं।

तत्रादौ श्रद्धधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्य-मांस-मधुन्युज्झेत पञ्चक्षीरफलानि च ॥[3]

सबसे पहले जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का श्रद्धान करते हुए हिंसा का त्याग करने के लिए मद्य-मांस-मधु और पाँच क्षीरफलों का त्याग करना चाहिये।

मद्यं-मासं तथा क्षौद्रमथोदुम्बरपञ्चकम्।
वर्जयेच्छ्रावको धीमान् केवलं कुलधर्मवित् ॥[4]

केवल अपने कुलधर्म की मर्यादा को जाननेवाले श्रावकों को भी मद्य-मांस मधु एवं पंच उदुम्बर फलों का त्याग तो करना ही चाहिये।

1. अमृतचन्द्राचार्य : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक - 61
2. आचार्य सोमदेव : यशस्तिलकचम्पू, श्लोक - 255
3. पण्डित आशाधर : सागार धर्मामृत, अध्याय 2, श्लोक - 2
4. पाण्डे राजमल्ल : लाटीसंहिता अध्याय 1, श्लोक - 7

मज्जु-मंसु-महु-परिहरहि, करि पंचुंबर दूरि।
आयहं अन्तरि अट्ठहांनि तस उप्पज्जईं भूरि ॥[1]

मद्य-मांस-मधु का परिहार करो, पाँच उदुम्बर फलों को दूर से ही त्यागो; क्योंकि इन आठों के अन्दर त्रसजीव होते हैं।

अथ मद्य-पला-क्षौद्र, पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
व्रतं जिघृक्षुणा पूर्वं विधातव्यं प्रयत्नतः ॥[2]

श्रावक के व्रतों को ग्रहण करने के इच्छुक पुरुष को सबसे पहिले मद्य-मांस-मधु और पाँच उदुम्बर फलों के खाने का प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिये।

मद्य-मांस-मधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥[3]

मद्य-मांस-मधु के त्याग के साथ पाँचों पापों के स्थूल त्याग को गृहस्थों के आठ मूलगुण कहे गये हैं।

मद्य-मांस-मधुत्याग संयुक्ताणुव्रतानि नुः ।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चाभकिष्वपि ॥[4]

मद्य-मांस-मधु के त्याग सहित पाँचों अणुव्रत ही मनुष्यों के आठ मूलगुण कहे गये हैं। पाँच उदुम्बर फलों के साथ मद्य-मांस-मधु के त्याग रूप आठ मूलगुण तो अबोध बालक भी धारण कर लेते हैं।

मधु-मांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम्।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम् ॥[5]

गृहस्थ के मद्य, मांस एवं पाँच उदुम्बर फलों का त्याग तथा हिंसादि

1. योगीन्द्रदेवसेन : सावयधम्म दोहा, गाथा - 22
2. आचार्य पद्मनन्दि : श्रावकाचार सारोद्धार अध्याय 3, श्लोक - 6
3. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक - 66
4. आचार्य शिवकोटि : रत्नमाला, श्लोक - 19
5. आचार्य जिनसेन : महापुराण, पर्व 38, श्लोक - 122

पाँच पापों से विरक्तिरूप सार्वकालिक औत्सर्गिक व्रत तो जीवनपर्यन्त रहते हैं।

हिंसादिपञ्चदोषविरहितेन द्यूत-मद्य-मांसानि परिहर्तव्यानि।

हिंसादि पाँच पापों से रहित श्रावक को द्यूत, मद्य और मांस का परिहार करना चाहिये।

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्म परिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरति गृहिणोऽष्ट सन्त्यमीमूलगुणाः॥[1]

स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से तथा जुआ, मांस और मद्य से विरत होना गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं।

मधुनो-मद्यतो-मांसाद् द्यूततो रात्रिभोजनात्।
वेश्या संगमनाच्चास्य, विरतिर्नियमः स्मृतः॥[2]

मद्य-मांस-मधु से, जुआ से, रात्रिभोजन से तथा वेश्यासंगमरूप निंद्यकर्मों से जो विरति होती है, उसे नियम कहते हैं।

यद्यपि रविषेणाचार्य एवं जिनसेनाचार्य ने इन्हें मूलगुण नाम न देकर नियम कहा है, पर धर्म को श्रवण करने और धारण करने की पात्रता के लिये इनको आवश्यक माना है तथा नामान्तर से यह भी मूलगुण ही हैं।

मांस मद्य मधु द्यूत वेश्या स्त्री नक्तभुक्तिः।
विरति नियमो ज्ञेयोऽनन्तकायादि वर्जनम्॥[3]

मद्य-मांस-मधु, द्यूत, वेश्या तथा रात्रि भोजन से विरक्त होना एवं अनन्तकाय आदि का त्याग करना नियम कहलाता है।

इन्होंने आचार्य रविषेण के उपुर्यक्त कथन का ही समर्थन करते हुये उसमें अनन्तकाय वनस्पति के त्याग पर विशेष बल दिया है।

---

1. चामुण्डराय : चारित्रसार श्रावकाचार, श्लोक - 15
2. रविषेणाचार्य : पद्मचरित, पर्व 14 श्लोक - 23
3. जिनसेनाचार्य (प्रथम) : हरिवंशपुराण, सर्ग 58, श्लोक - 43

पंचुम्बर सहियांइ सत्तवि विसणाई जो विवज्जेई।
सम्मत्त विसुद्ध मई, सो दंसण सावओ भणिओ ॥
उंबर बड़ पिप्पल, पिंपरीय संधाण तरूपसूणाई।
णिच्चं तस संसिद्धांइ, ताईं परिवज्जियब्बाइ ॥
जूयं मज्जं मंसं, वेसा पारद्धि-चोर-परयारं।
दुग्गइ गमणस्सेदाणि, हेउ भूदाणि पावाणि ॥[1]

सम्यग्दृष्टि जीवों के पाँच उदुम्बर फलों सहित सातों व्यसनों का त्याग होता है।

ऊमर, बड़, पीपल, कठूमर और पाकर तथा संधानक (अचार) और वृक्षों के फूल नित्य त्रसजीवों से भरे हुए रहते हैं; इसलिये इन सबका त्याग करना चाहिये।

जुआ, शराब, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी एवं परदार सेवन ये सातों व्यसन दुर्गति गमन के कारण हैं।

उदुम्बराणि पञ्चैव, सप्तव्यसनान्यपि।
वर्जयेत् यः सः सागारो भवेद् दार्शनिकाह्वयः ॥[2]

जो जीव पांच उदुम्बर फलों का और सातों ही व्यसनों का त्याग करता है, वह दार्शनिक श्रावक है।

अष्टमूलगुणोपेतो द्यूतादि व्यसनोज्झितः।
नरो दर्शनिकः प्रोक्तः स्याच्चेत्सद्दर्शनान्वितः ॥[3]

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन सहित अष्ट मूलगुणधारी एवं सप्त व्यसनों का त्यागी हो, उसे दार्शनिक श्रावक या दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक कहा गया है।

मद्य-मांस-मधु रात्रिभोजन क्षीरवृक्ष फल वर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निवेशते व्रतम् ॥[1]

1. आचार्य वसुनन्दि : वसुनन्दि श्रावकाचार, गाथा - 57, 58, 59
2. गुणभूषणाचार्य : गुणभूषण श्रावकाचार, अध्याय 3, श्लोक - 4
3. पाण्डे राजमल्ल : लाटी संहिता, प्रथम सर्ग, श्लोक - 61

चतुर जन मद्य-मांस-मधु, रात्रि भोजन और क्षीरीवृक्षों का मन-वचन-काय से त्याग करते हैं; क्योंकि इनके त्याग करने से व्रत परिपुष्ट होते हैं, धर्म धारण की पात्रता प्रगट होती है।

उपर्युक्त श्रावकाचारों के अतिरिक्त 9वीं सदी का वरांगचरित, 12वीं सदी का पूज्यपाद श्रावकाचार, 15वीं सदी का प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, 16वीं सदी का धर्मसंग्रह श्रावकाचार एवं व्रतोद्योतन श्रावकाचार, 17वीं सदी का श्रावकाचार सारोद्धार आदि और भी अनेक श्रावकाचार हैं; जिनमें प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्षरूप से मद्य-मांस-मधु, पाँच उदुम्बर फलों एवं सप्त व्यसनों के त्यागरूप मूलगुणों के उल्लेख हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैन वाङ्मय में चरणानुयोग का ऐसा कोई शास्त्र नहीं, जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से श्रावक के आठ मूलगुणों की चर्चा न हो तथा इन आठों मूलगुणों में ही श्रावक के योग्य स्थूलरूप से अहिंसक आचरण को सम्मिलित न किया गया हो।

तात्पर्य यह है कि सभी श्रावकाचारों में अहिंसक आचरण की मुख्यता से ही आठ मूलगुणों का विधान किया गया है। यद्यपि आचार्यों द्वारा मूलगुणों की आठ संख्या को कायम रखने के प्रयास किए गए, पर अन्ततः वह निर्वाह हो नहीं सका। कहीं-कहीं 6, 7, 9 एवं 12 संख्या भी हो गई। फिर भी अधिकांश आचार्यों ने सभी प्रकार के अहिंसाप्रधान दैनिक आचरण को मूलगुणों में अन्तर्भूत करने के प्रयास किये हैं।

उपर्युक्त मूलगुणों का समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए राजवार्तिक के हिन्दी टीकाकार ने अपना निम्नांकित मन्तव्य प्रगट किया है -

'किसी शास्त्र में तो पाँच अणुव्रत व मद्य-मांस-मधु के त्यागरूप आठ मूलगुण कहे हैं तथा किसी शास्त्र में तीन प्रकार के मद्य-मांस-मधु व पाँच

1. आचार्य अमितगति : अमितगति श्रावकाचार, पंचम परिच्छेद, श्लोक - 1

उदुम्बर फल (बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर व पाकर) के त्याग को अष्ट मूलगुण कहे। किसी-किसी अन्य शास्त्रों में अन्य प्रकार के मूलगुण कहे। सो यह तो विवक्षा का भेद है। वहाँ ऐसा समझना कि स्थूलरूप से पाँच पापों का ही त्याग कराया है।

पाँच उदुम्बर फलों के त्याग में द्वि-इन्द्रिय आदि त्रसजीवों के भक्षण का त्याग हुआ, शिकार के त्याग में भी त्रसजीवों को मारने का त्याग हुआ। चोरी तथा परस्त्री के त्याग में भी अचौर्य व ब्रह्मचर्य व्रत हुए। जुआ आदि दुर्व्यसनों के त्याग में असत्य का त्याग हुआ तथा परिग्रह की अतिचाह मिटी। मद्य, मांस व शहद के त्याग में भी त्रसजीवों की हिंसा का त्याग हुआ।

इसप्रकार जहाँ मद्य-मांस-मधु के साथ पाँच उदुम्बर फलों के त्याग की बात कही है, वहाँ पाँचों पापों का त्याग भी अनुक्तरूप से आ ही गया है और जहाँ पाँचों पापों के स्थूल त्याग की बात तो कही; पर पाँच उदुम्बर फलों के त्याग की बात नहीं कही, वहाँ भी पंच उदुम्बर फलों का त्याग भी अनकहे आ ही गया; क्योंकि जिसने पापों के त्याग में हिंसा का त्याग कर दिया, वह त्रस जीवों से भरे पंच उदुम्बर फल कैसे खा सकता है?

इसीप्रकार सप्तव्यसन, रात्रि भोजन, बिनाछना जल आदि के संदर्भ में भी समझ लेना चाहिए। इन सप्त व्यसनादि की चर्चा आगे प्रथक से भी की गई है। विशेष जानकारी के लिए उन प्रकरणों को अवश्य पढ़ें।

□

मूलगुणों के विभिन्न कथनों का समन्वय

विक्रम की दूसरी सदी से उन्नीसवीं सदी तक जिनागम में जो विविधरूपों में अष्ट मूलगुणों की चर्चा हुई है, उनमें से वर्तमान में पुरुषार्थसिद्धयुपाय एवं रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उल्लिखित मद्य-मांस-मधु व पाँच उदुम्बर फलों के त्याग तथा मद्य-मांस-मधु व पाँचों पापों के स्थूल त्यागरूप अष्ट मूलगुण ही अधिक प्रचलित हैं; क्योंकि जनसाधारण में चरणानुयोग के ग्रन्थों में ये दोनों ग्रन्थ ही सर्वाधिक स्वाध्याय व पठन-पाठन में रहे हैं। दूसरे, जहाँ हिंसा के त्याग का नियम ले लिया गया हो, वहाँ कोई हिंसा के आयतन रात्रि भोजन, अनछना जल आदि का उपयोग भी कैसे कर सकता है? अत: अन्य मनीषियों द्वारा प्रतिपादित विविध मूलगुण भी इन्हीं में अन्तर्गर्भित हो जाते हैं। इसकारण वे अचर्चित रह गये।

पुराण साहित्य में सर्वाधिक पढ़े जानेवाले पद्मपुराण, महापुराण एवं हरिवंश पुराणों में आगत श्रावकाचार के प्रकरण में अष्ट मूलगुणों की जो चर्चा आई है, वहाँ भी देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार मद्य-मांस-मधु के त्याग के साथ जुआ, रात्रि भोजन, वेश्या संगम एवं परस्त्री रमण के त्याग को भी अष्ट मूलगुणों में विशेषरूप से उल्लेख कर दिया गया है।

महापुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य ने आठ की संख्या कायम रखने के कारण मधु-मांस एवं पाँच उदुम्बर फलों के साथ हिंसा आदि पाँचों पापों को एक गिनकर आठ मूलगुण कहे हैं। ध्यान रहे, उन्होंने मद्यत्याग की जगह हिंसादि पापों के त्याग को स्थान दिया है।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उन्हें मद्यत्याग कराना इष्ट नहीं है। मद्य तो सामाजिक दृष्टि से भी वर्जित है ही, अत: मद्य के कथन को गौण करके उसके स्थान पर पापों के त्याग को मुख्य किया है।

चामुण्डराय ने चारित्रसार में अपने देशकाल के अनुसार हिंसा, असत्य,

स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह के स्थूल तथा जुआ, मांस और मद्य सेवन के त्याग को अष्ट मूलगुण नाम दिया है। इसकारण इनके कथन में मधुत्याग गौण हो गया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि चारित्रसार का कथन मूलत: आदिपुराण से उद्धृत है, जो आचार्य जिनसेन का ही है। एक ही ग्रन्थ में दो जगह प्रकरण के अनुसार अलग-अलग कथन हैं। एक जगह मद्य के त्याग को गौण किया और दूसरी जगह मधु के त्याग को। इसी से स्पष्ट है कि उन्हें मद्य व मधु दोनों का ही त्याग इष्ट है।

प्रश्न - पाँच अणुव्रत तो दूसरी प्रतिमा में होते हैं, फिर उन्हें अव्रती श्रावक के अष्ट मूलगुणों में सम्मिलित क्यों किया गया?

उत्तर - व्यसनों के प्रकरण में जो चोरी एवं परस्त्री के त्याग की बात आई है, वहाँ पण्डित सदासुखदासजी ने स्पष्ट लिखा है कि 'जाके जिनधर्म की प्रधानता होय है ताकि चारित्र मोह के उदयतैं त्याग, व्रत, संयम नाहीं होय तो हू अन्याय के धन में वांछा मत करो।[1]'

यही स्थिति मूलगुणों में आये पांचों पापों के त्याग के विषय में समझना चाहिए। भले ही उसे अभी व्रत संयम नहीं हुए हैं, पर जैनधर्म के श्रद्धानी के जीवन में लोकनिंद्य सामान्य पापाचार तो नहीं होना चाहिए। एतदर्थ ही पांचों पापों के स्थूल त्याग को मूलगुणों में रखा है।

यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिए कि मूलगुणों में जो पांच अणुव्रत कहे, उनमें अतिचार नहीं टल पाते हैं और व्रतप्रतिमा में पंचाणुव्रतादि बारहव्रत अतिचार रहित पूर्ण निर्दोष रीति से पालन होते हैं। □

---

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषाटीका, पृष्ट-141 चतुर्थ अधिकार

मूलगुणों का उपदेश आवश्यक क्यों ?

विक्रम की दूसरी सदी से अब तक स्वतंत्र या किसी ग्रन्थ के अंग के रूप में जैन साहित्य के इतिहास में विभिन्न नामों से लगभग चालीस श्रावकाचार उपलब्ध हैं, जो प्रकाशित भी हो चुके हैं। उनमें श्रावकों के आचरण का विस्तृत विवेचन है। प्राय: सभी में मद्य-मांस-मधु एवं पंच उदुम्बर फलों के त्याग पर ही विशेष बल दिया गया है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि कहीं/कभी/कोई जैन श्रावकों का वर्ग विशेष मद्य-मांस-मधु एवं पंच उदुम्बर फलों का सेवन करता होगा। यह तो जैनों की परम्परागत सनातन चली आई कुल की मर्यादा है कि किसी भी जैनकुल में कभी भी मद्य-मांस-मधु एवं पंच उदुम्बर फलों का सेवन नहीं होता; फिर भी यह जो अष्ट मूलगुण धारण करने-कराने का उपदेश दिया गया है, उसका मूल कारण यह है कि परम्परागत चली आई वह सुरीति सदैव अखण्डितरूप से चलती रहे। भूल से भी कभी कोई इस मर्यादा का उल्लंघन न करे। इस भावना से ही इनका प्रतिपादन होता रहा है और होता रहना चाहिए।

आजतक जो जैनों में मद्य-मांस-मधु व अभक्ष्य-भक्षण नहीं है, वह शास्त्रों के इन्हीं उपदेशों का सुपरिणाम है। यदि यह उपदेश इतने सशक्तरूप में जिनवाणी में न होता तो निश्चित ही जैन समाज में दुर्व्यसनों का कभी न कभी, कहीं न कहीं प्रवेश अवश्य हो गया होता।

अब तक जिसतरह बचे हैं, भविष्य में भी इसीतरह इन दुर्व्यसनों और हिंसक प्रवृत्तियों से समाज को बचाये रखना है; एतदर्थ आज भी सतत सावधान रहने की आवश्यकता है। अन्यथा इस भौतिक और भोगप्रधान युग में, जबकि सब ओर दुर्व्यसनों का बोलबाला है, जैन नवयुवकों को इनसे अछूता रख पाना असंभव नहीं तो कठिन तो हो ही जायेगा।

भले ही अबतक जैनकुल में परम्परागत कोई मांस न खाता-पीता हो,

फिर भी उसके खतरे से सावधान करने हेतु भक्ष्य-अभक्ष्य, खाद्य-अखाद्य, पेय-अपेय की चर्चा तो सदैव अविरलरूप से चलती ही रहना चाहिये। चर्चा से संपूर्ण वातावरण प्रभावित होता है। जो दुर्भाग्यवश इन दुर्व्यसनों में फंस गये हैं, उन्हें उससे उबरने का मार्ग मिल जाता है और जो अबतक बचे हैं, वे भविष्य के लिए सुरक्षित हो जाते हैं। उनकी आगामी पीढ़ियाँ भी इससे बची रहती हैं।

इसतरह इन उपदेशों और सामूहिकरूप से किए जा रहे प्रचार-प्रसार की उपयोगिता असंदिग्ध है।

पहले जमाने में भी जैनों में मद्य-मांस-मधु का सेवन नहीं था, फिर भी जैन वाङ्मय में चरणानुयोग का ऐसा कोई शास्त्र नहीं है, जिसमें श्रावक के लिए आठ मूलगुणों के धारण करने व सात व्यसनों के त्याग का उपदेश न हो।

पर अब तो जैनकुलों में जो विगत हजारों वर्षों में नहीं हुआ, वह भी होता दिखाई देता है।

पाश्चात्य संस्कृति और आधुनिक सभ्यता की इस दौड़ में पंचसितारा (फाइव स्टार) होटलों के प्रताप से आज धनिक नवयुवकों में तो मांस के सेवन की शुरुआत हो चली है। ऐसी स्थिति में उन्हें मार्गदर्शन देने की एवं ऐसा वातावरण बनाने की महती आवश्यकता है।

जो व्यक्ति इन अखाद्य-भोजन और अपेय-पेय को हृदय से बुरा मानते हैं, वे तो इन्हें खाते-पीते हुए भी समाज और परिवार से मुँह छिपाते हैं, शर्म महसूस करते हैं, खेद प्रकट करते हैं, वे स्वयं अपराध बोध अनुभव करते हैं; अत: उन्हें तो फिर भी सुलटने के अवसर हैं। पर जो लोग इसे सभ्यता और बड़प्पन की वस्तु मान बैठे हैं, बड़े और पढ़े-लिखे होने का मापदंड समझ बैठे हैं। उनकी स्थिति चिंतनीय है। ऐसे लोगों को मद्य-मांसादि के सेवन से होनेवाली हानियों का यथार्थज्ञान हो तथा उनके हृदय में

करुणा की भावना जगे, उनमें मानवीय गुणों का विकास हो, वे सदाचारी बनें; एतदर्थ भी इसकी सतत चर्चा आवश्यक है, अनिवार्य है।

आज तो यहाँ उलटी गंगा बह रही है। जहाँ पाश्चात्य देशों में मद्य-मांस का बाहुल्य था, वे दिनों-दिन शाकाहार की ओर बढ़ रहे हैं और भारत, जो ऋषियों-मुनियों का देश कहा जाता है, शुद्ध सात्त्विक शाकाहार ही जिसका मुख्य आहार रहा है, वह पश्चिमी सभ्यता की देखा-देखी मद्य-मांस की ओर अग्रसर हो रहा है।

हमें अपने उज्ज्वल भविष्य के लिए एकबार पुन: अपने ऋषियों, मुनियों एवं मनीषियों द्वारा प्रतिपादित मूलगुणों के विभिन्नरूप एवं उनका समन्वयात्मक दृष्टिकोण समझकर उन्हें अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाना होगा; तभी हम सच्चे श्रावक बन सकेंगे। ☐

सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकपना शोभा नहीं देता

केवल कुल-विशेष में जन्म लेने से श्रावकपना नहीं हो जाता, परन्तु सर्वज्ञ की पहिचानपूर्वक श्रावकधर्म का आचरण करने से श्रावकपना होता है। समयसार में जिस प्रकार एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा बताया है उस प्रकार शुद्ध आत्मा की पहिचानपूर्वक सम्यक्दर्शन होवे तो श्रावकपना शोभा देता है। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकपना शोभा नहीं देता। निर्विकल्प अनुभूति सहित सम्यग्दर्शन होवे उसके बाद आनन्द की अनुभूति और स्वरूपस्थिरता बढ़ जाने से अप्रत्याख्यान कषायों का भी अभाव होता है, - ऐसी आंशिक अरागी दशा होवे उसका नाम श्रावकपना है और उस भूमिका में जो राग बाकी है उसमें जिनेन्द्रदर्शन-पूजन, गुरुसेवा, शास्त्रस्वाध्याय, दान अणुव्रत आदि होते हैं, - इसलिए वह भी व्यवहार से श्रावक का धर्म है।

श्री कानजीस्वामी : श्रावक धर्म प्रकाश, पृष्ठ 130

मूलगुणों का वर्गीकरण

विक्रम की दूसरी सदी से लेकर अबतक के श्रावकाचारों में उपलब्ध मूलगुणों की विविध व्याख्याओं का वर्गीकरण आठ वर्गों में हो जाता है, जो इसप्रकार है -

(1) मद्य-मांस-मधु और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग।

इस वर्गीकरण के प्रतिपादक आचार्यों में आचार्य अमृतचन्द्र, पद्मनन्दि, सोमदेव, देवसेन, पण्डित आशाधर एवं पाण्डे राजमल्ल प्रमुख हैं।

(2) मद्य-मांस-मधु एवं पाँचों पापों का स्थूल त्याग।

इस वर्ग के समर्थक आचार्य समन्तभद्र एवं शिवकोटि हैं।

(3) मधु-मांस का त्याग, पाँचों पापों से विरति एवं जुआ खेलने का त्याग।

इस वर्ग के प्रतिपादक आचार्यों में महापुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन (द्वितीय) प्रमुख हैं।

(4) पाँच उदुम्बर फल, सात-व्यसन, अचार-मुरब्बा तथा फूल व फलों से बने गुलकन्द आदि का त्याग।

इसके प्रतिपादक आचार्य वसुनन्दि हैं।

(5) मद्य-मांस-मधु पाँच उदुम्बर फल एवं रात्रिभोजन त्याग।

इस वर्ग के प्रतिपादकों में आचार्य अमितगति मुख्य हैं।

(6) मद्य-मांस-मधु, जुआ खेलना, वेश्यागमन एवं रात्रिभोजन त्याग।

इस वर्ग के प्रतिपादक हैं पद्मपुराण के कर्त्ता आचार्य रविषेण।

(7) हरिवंशपुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन (प्रथम) ने रविषेणाचार्य द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त मूलगुणों में अनन्तकायवाले कंदमूलों के त्याग का विधान और कर दिया।

(8) पाँच उदुम्बर फल एवं सात व्यसनों का त्याग।

इस वर्ग के प्रतिपादक आचार्य गुणभूषण हैं।

इसप्रकार उपर्युक्त अध्ययन से यह तो स्पष्ट हो ही गया कि मद्य-मांस-मधु एवं पंच उदुम्बर फलों का त्याग तो सबको इष्ट है ही, साथ ही अपने-अपने देश-काल व परिस्थितियों के अनुसार जब/जहाँ/जिस पाप की प्रचुरता या दुर्व्यसनों का इतना बाहुल्य देखा गया कि उनके त्यागे बिना धर्मश्रवण व ग्रहण की पात्रता ही नहीं आती, तो उनके त्याग की अनिवार्यता देखकर उन्होंने उन प्रवृत्तियों के त्याग पर विशेष बल दिया है।

वैसे अष्ट मूलगुणों में उन सब उक्त-अनुक्त पापों का त्याग तो अन्तर्गभित है ही, जो श्रावकधर्म के मूल आधार हैं, पर वर्तमान समय को देखते हुए आचार्यों द्वारा प्रतिपादित पाक्षिक श्रावकों के कर्तव्यों में कुछ महत्त्वपूर्ण कर्तव्य इसप्रकार हैं-

(1) मधु-मांस और मद्य आदि सभी प्रकार की मादक वस्तुओं का त्याग।

(2) रात्रि में अन्नाहार का त्याग।

(3) कंदमूल और उदुम्बर फलों का त्याग।

(4) बिना छने जलपान का त्याग।

(5) बाजारू अपेय एवं अखाद्य पदार्थों का त्याग।

(6) जुआ आदि सप्त व्यसनों का त्याग।

(7) द्विदल आदि अभक्ष्य-भक्षण का त्याग।

(8) सामान्य स्थिति में प्रतिदिन देवदर्शन और सुबह-शाम स्वाध्याय करने का नियम।

(9) वीतरागी देव, निर्ग्रन्थगुरु और अहिंसामय धर्म में दृढ़ श्रद्धा।

इन उपर्युक्त कर्तव्यों के पालन किए बिना सच्चा पाक्षिक श्रावकपना भी नहीं होता। □

श्रावकधर्म प्रतिपादन के प्रकार

मूलगुणों के संदर्भ में उपर्युक्त अध्ययन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि उपलब्ध जैन वाङ्मय में श्रावकधर्म का वर्णन मुख्यत: तीन प्रकार से मिलता है -

(1) ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर।

(2) बारह व्रतों को एवं सल्लेखना को आधार बनाकर।

(3) पक्ष, चर्या और साधन को आधार बनाकर।

इन तीनों प्रकारों में प्रथम प्रकार के आधार पर प्रतिपादन करनेवाले आचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामीकार्तिकेय और आचार्य वसुनन्दि प्रमुख हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावकधर्म का वर्णन किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने यद्यपि श्रावकधर्म के प्रतिपादन में कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा, फिर भी चारित्रपाहुड़ में श्रावकधर्म का वर्णन ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर किया है। यह वर्णन अति संक्षिप्त होने पर भी अपने आप में पूर्ण है।

स्वामी कार्तिकेय ने भी श्रावकधर्म पर कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं रचा, पर 'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में धर्मभावना के अन्तर्गत श्रावकधर्म का सविस्तार वर्णन किया है। इन्होंने भी बहुत स्पष्टरूप से ग्यारह प्रतिमाओं को ही आधार बनाया है।

इसके बाद के आचार्य वसुनन्दि ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इन तीनों ही आचार्यों ने मूलगुणों का वर्णन ही नहीं किया।

दूसरे प्रकार में बारह व्रतों को आधार बनाकर श्रावकधर्म का प्रतिपादन

करनेवाले आचार्यों में स्वामी समन्तभद्राचार्य प्रमुख हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने श्रावकधर्म का वर्णन बारह व्रतों के आधार पर ही किया है। अत: व्रतों के बीच में तो वे मूलगुणों का वर्णन कैसे करते? पर वे मूलगुणों का उल्लेख किये बिना नहीं रह पाये; अत: उन्होंने तीसरे अध्याय के अन्त में बिना प्रसंग के ही एक श्लोक में मूलगुणों का नाम मात्र उल्लेख कर दिया।

उसमें उन्होंने मद्य-मांस-मधु के साथ पांच उदुम्बर फलों के त्याग को न कहकर पांच पापों के त्याग की बात कही; क्योंकि पांच पापों के स्थूल त्याग बिना उन्हें मूलगुण मूलगुण से ही नहीं लगे।

यद्यपि उन्होंने स्वयं कोई टिप्पणी नहीं की, कोई खुलासा भी नहीं किया; पर उन्हीं के अनन्यतम शिष्य आचार्य शिवकोटि के निम्नांकित कथन से इस बात की पुष्टि होती है कि उस समय पंच उदुम्बर फलों के त्याग की बात भी मूलगुणों के संदर्भ में चलती थी, जिसका बाद के आचार्यों ने उल्लेख कर दिया।

आचार्य शिवकोटि लिखते हैं कि मद्य-मांस-मधु व पंच उदुम्बर फलों का त्याग तो अबोध बालकों या अज्ञ पुरुषों के भी होता है, विवेकी जन के तो पांचों पापों का स्थूल त्याग भी होना ही चाहिए।[1]

इस कथन से भी यह बात सिद्ध होती है कि मद्य-मांस-मधु व पंच उदुम्बर फलों का त्याग तो गृहस्थ की प्राथमिक भूमिका में ही हो जाना चाहिए। भले ही उनका वर्णन चारित्र के प्रकरण में ही क्यों न आया हो?

श्रावकधर्म के प्रतिपादन का तीसरा प्रकार है - पक्ष, चर्या और साधन - इस आधार पर श्रावकधर्म का प्रतिपादन करनेवाले आचार्य जिनसेन (द्वितीय) हैं। यद्यपि इन्होंने भी श्रावकाचार पर कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा, पर महापुराण के 39 एवं 40वें पर्व में उन्होंने पक्ष चर्या व साधनरूप से श्रावकधर्म का निरूपण किया है, जो संक्षेप में इसप्रकार है-

पाक्षिक - जिसे अरहंत देव का पक्ष हो, जो जिनेन्द्र के सिवाय किसी अन्य देव को, निर्ग्रन्थ गुरु के सिवाय किसी अन्य गुरु को और वीतरागधर्म के सिवाय किसी अन्य सरागधर्म को न माने, उसे पाक्षिक श्रावक कहते हैं।

नैष्ठिक - जो श्रावक के बारह व्रतों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करता है एवं न्यायपूर्वक आजीविका करता है, उसे नैष्ठिक श्रावक कहते हैं।

साधक - जो जीवन के अन्त में काय को कृश करने के साथ विषय-कषायों को क्रमशः कम करता हुआ आहार आदि सर्वारंभ को छोड़कर परम समाधि का साधन करता है, वह साधक श्रावक है।

आचार्य जिनसेन के पश्चात् पण्डित आशाधरजी ने तथा अन्य विद्वानों ने इन तीनों को ही आधार बनाकर श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है।

उपर्युक्त तीनों प्रकारों में जिन्होंने 11 प्रतिमाओं और 12 व्रतों को श्रावकधर्म के निरूपण का आधार बनाया है, उनमें अधिकांश ने तो अष्ट मूलगुणों की चर्चा ही नहीं की और जिन्होंने प्रसंगवश की है, उन्होंने व्रत-प्रतिमा के साथ जहाँ-जैसा प्रसंग आया, वहाँ वैसी चर्चा कर दी।

उदाहरणार्थ समन्तभद्र को ही लें। रत्नकरण्डश्रावकाचार के तृतीय अध्याय में जब वे देशचारित्र का वर्णन कर चुके, तब बिलकुल अन्त के 66वें श्लोक में आठ मूलगुणों के नाम मात्र गिना दिये। उन्होंने भी मद्य-मांस-मधु के साथ उन्हीं पांचों पापों के त्याग को सम्मिलित किया, जिनका अणुव्रतों में भी निषेध कर आये हैं।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इन मूलगुणों का धारण अणुव्रतों के बाद या साथ होता है तथा पाँच उदुम्बर फल उनकी दृष्टि में अभक्ष्य त्याज्य नहीं थे। इन्हें तो उन्होंने जैनमात्र के लिए जन्म से ही सर्वथा त्याज्य माना है, अतः उनकी यहाँ चर्चा करना भी ठीक नहीं माना। मद्य-मांस-मधु के त्याग की जो बात की है, वह भी इनके परोक्षरूप से लगनेवाले

अतिचारों-दोषों से दूर रहने की बात है, प्रत्यक्ष मांसादि का त्याग तो जन्म ही से है।

जिन आचार्यों ने श्रावक के मूलगुणों के वर्णन में अष्ट मूलगुणों की चर्चा नहीं की, उनकी दृष्टि में भी मद्य-मांस-मधु आदि प्रथम भूमिका में ही त्याज्य हैं, क्योंकि मूलगुण कहते ही उसे हैं, जिनके धारण बिना श्रावकपना ही संभव नहीं है। जो धर्मतत्त्व को स्वयं सुनता हो, जैनधर्म में पूर्ण श्रद्धा रखता हो तथा सदाचारी हो, उसे श्रावक कहते हैं।[1]

इसी भाव को पल्लिवित करते हुए और भी कहा है –

श्रद्धालुतां श्राति श्रृणोति शासनं दीने वपेदाशु वृणोतिदर्शनः।
कर्तृत्व पुण्यानि करोति संयमं तंश्रावकं प्राहुरमी विच्छणाः॥

जो श्रद्धालु होकर जैनशासन को सुने, दान दे, सम्यग्दर्शन को वरण करे, सुकृत व पुण्य के कार्य करे, संयम का आचरण करे, उसे विचक्षण जन श्रावक कहते हैं।

प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव के दर्शन करना, जल छानकर पीना और रात्रि में भोजन नहीं करना – ये तीन श्रावक के मुख्य बाह्यचिह्न हैं।[2]

जो श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करता है, सुपात्रों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावक मोक्षमार्ग में शीघ्र गमन करता है।[3]

अष्ट मूलगुणों के धारी सामान्य श्रावक की सच्चे देव-शास्त्र-गुरु में अटूट श्रद्धा होती है। वह मद्य-मांस-मधु व पाँच पापों के स्थूल त्याग के

1.श्रृणोति धर्मस्तत्वं यः परान् श्रावयति श्रुतं।
श्रद्धावान जैनधर्मे सः सत्क्रिया श्रावको बुधः॥-शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश 143
2.धेयं सदा जिनदेव दर्शनं पेयं पयः पट गालितं सदा।
हेयं निशायां खलु भोजनं हृदा एतानि चिह्नानि भवन्ति श्रावके॥
3.जिनपूजा मुनिदानं करेइ जो दोइ सत्ति रूपेण।
सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्ख मग्गरओ॥

साथ दुर्गति के कारणभूत गृहीत मिथ्यात्व का भी त्याग कर देता है; अत: वह रागी-द्वेषी देव, सग्रंथगुरु एवं उनके उपासकों की पूजा-उपासना एवं वन्दना नहीं करता। सच्चे धर्म का पक्ष मात्र होने से उसे पाक्षिक श्रावक भी कहते हैं।[1]

श्रावक के छह आवश्यक कर्त्तव्यों में सत्पात्र दान और जिनेन्द्र पूजा को मुख्य कर्त्तव्य कहा गया है।

जैसा कि रयणसार में कहा है –

'दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो न तेण बिणा'

यद्यपि पाक्षिक श्रावक किसी व्रत का पालन नहीं करता, इस कारण वह अव्रती है, पर जिनधर्म का पक्ष होने से वह श्रावक के मूलगुणों का पालन अवश्य करता है। मूलगुणों का पालन किए बिना कोई नाममात्र से भी श्रावक नहीं कहला सकता।

कषायपाहुड़, अमितिगति श्रावकाचार एवं सागार धर्मामृत में भी इसी बात को पुष्ट करते हुए दान, पूजा, शील व उपवास को भी श्रावक का मुख्य कर्त्तव्य कहा है।

विक्रम संवत् की सत्रहवीं सदी के मनीषी और अध्यात्मरसिक पाण्डे राजमल्लजी ने भी ग्यारह प्रतिमाओं के प्रकरण में दर्शनप्रतिमा के अन्तर्गत अष्ट मूलगुणों की चर्चा की है। वे लिखते हैं –

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन सहित अष्ट मूलगुणों का धारी एवं सप्त व्यसन का त्यागी हो, उसे दार्शनिक श्रावक कहा गया है।[2]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भले ही पाण्डे राजमल्लजी ने अष्ट मूलगुणों की चर्चा दर्शनप्रतिमा के प्रकरण में की है, पर उनकी यह पक्की मान्यता है कि

---

1. जघन्य: पाक्षिकश्चायं धत्ते मूलगुणाष्टकम्।
   जहाति सर्व मिथ्यातं दुर्गति दुख दायकम्॥
2. लाटी संहिता प्रथम सर्ग, श्लोक - 6

मद्य-मांस-मधु व पंच उदुम्बर फलों का त्याग तो जैनकुल में जन्में व्यक्ति के होता ही है। जैसा कि उनके निम्नांकित श्लोक से स्पष्ट है –

मद्यं मांसं तथा क्षौद्रमथोदुम्बरपञ्चकम्।
वर्जयेच्छ्रावको धीमान् केवलं कुलधर्मविद्॥

केवल अपने कुलधर्म की मर्यादा को जाननेवाले श्रावकों को भी मद्य-मांस-मधु एवं पंच उदुम्बर फलों का त्याग तो करना ही चाहिए।[1]

यद्यपि पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के छठवें अध्याय में कुल द्वारा गुरुपने मानने को मिथ्याभाव कहा है, पर वह अपेक्षा जुदी है और पाण्डे राजमल्लजी ने जो उपर्युक्त श्लोक में मद्य-मांस-मधु के त्याग को कुलधर्म की संज्ञा देकर इन्हें त्यागने की प्रेरणा दी है – यह अपेक्षा जुदी है। दोनों में जमीन-आसमान जैसा महान अन्तर है।

पण्डित टोडरमलजी ने जहाँ /जिस प्रकरण में कुल धर्म का निषेध किया है, वहाँ तो अत्यन्त स्पष्टरूप से अन्य मतावलम्बियों की कुल परम्परा से गुरुपना मानने संबंधी उस मान्यता का निषेध किया है, जिसमें वे हीन आचरण करते हुए भी अपने को केवल कुल द्वारा गुरु मानते व मनवाते हैं।

वहाँ उनका कहना है कि हमारा कुल ही ऊँचा है, इसलिए हम सबके गुरु हैं। पर कुल की उच्चता तो धर्म साधन से है। यदि कोई उच्च कुल में जन्म लेकर हीन आचरण करे तो उसे उच्च कैसे मानें? आदि।

और यहाँ लाटी संहिता में पाण्डे राजमल्लजी का कहना तो यह है कि मद्य-मांस-मधु व पंच उदुम्बर फलों का त्याग तो जैन कुल में जन्म से ही होता है ; अत: इस कुल की मर्यादा का निर्वाह तो प्रत्येक जैन को हर हाल में करना ही चाहिए।

उक्त सन्दर्भ में प्रश्नोत्तर शैली में किया गया उनका निम्नांकित कथन

1. लाटी संहिता प्रथम सर्ग, श्लोक - 7

द्रष्टव्य है -

ननु साक्षान्मकारादित्रयं जैनो न भक्षयेत्।
तस्य किं वर्जनं न स्यादसिद्धः सिद्धसाधनात्॥

कदाचित् यहाँ कोई प्रश्न करे – शंका प्रगट करे कि- जब कोई भी जैनी साक्षात् मद्य-मांस-मधु का सेवन करता ही नहीं है तो क्या इतने मात्र से ही जैनों के इन आठों का त्याग सिद्ध नहीं होता? इसप्रकार सिद्ध साधन होने से इन वस्तुओं को त्याग करानेवाला यह उपदेश क्या निरर्थक नहीं है?[1]

इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं –

मैवं यस्मादतीचाराः सन्ति तत्रापि केचनः।
अनाचारसमानूनं त्याज्या धर्मार्थिभिः स्फुटम्॥

नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि यद्यपि जैनी इनका साक्षात् भक्षण नहीं करते, तथापि उनके कितने ही ऐसे अतिचार (दोष) हैं, जो अनाचार के समान हैं, इसलिए धर्मात्मा जीवों को उन अतिचारों का त्याग अवश्य करना चाहिए।[2]

उदाहरणार्थ (1) चमड़े के पात्र में रखे घी, तेल, पानी आदि अखाद्य-पदार्थ, अपेय-पदार्थ, विधें हुए-घुने हुए अनाज, जिनमें त्रसजीव पैदा हो जाते हैं, इन सब में मांस खाने का दोष है; क्योंकि इनमें त्रस जीवों का मांस मिला होता है।

(2) मूलगुणों में जो रात्रिभोजन त्याग को सम्मिलित किया गया है, उसके संबंध में भी लाटी संहिताकार का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :-

अस्ति कश्चित् विशेषोऽत्र स्वल्पाभासोर्थतो महान्।
सातिचारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रातीचारवर्जिताः॥4॥

मूलगुणों के धारण करने में जो रात्रिभोजन का त्याग है, वह अतिचार

1.लाटिसंहिता प्रथम सर्ग, श्लोक - 8

2.लाटिसंहिता प्रथम सर्ग, श्लोक - 9

सहित है, उसमें अतिचारों का त्याग शामिल नहीं है, जबकि रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा में अतिचार रहित त्याग होता है।[1]

मूलगुणों में रात्रिभोजन त्याग की सीमा का उल्लेख करते हुए कहा है कि-

निषिद्धमन्नमात्रादि स्थूलभोज्यं व्रते दृशम्।
अनिषिद्धं जलाद्यत्र ताम्बूलाद्यपि का निशि॥

इस व्रत में रात्रि में केवल अन्नादि स्थूल भोजनों का त्याग है, इस भूमिका में पान, जल तथा औषधि आदि का त्याग नहीं है।[2]

पद्मनन्दिपंचविंशतिका में कहा है कि -

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने-दिने॥

श्रावक को देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान - ये षट्कर्म प्रतिदिन करने योग्य हैं।

पाक्षिक श्रावक का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए सागारधर्मामृत के तृतीय अध्याय में कहा है कि कृष्ण,नील,कापोत-इन तीन अशुभ लेश्याओं[3] में किसी एक के वेग से जो यदा-कदा इन्द्रियों के विषयों में उत्कंठित हो जाने के कारण मूलगुणों से भी स्खलित हो जाता है, फिर भी धर्म का पक्ष नहीं छोड़ता, वह गृहस्थ पाक्षिक श्रावक है।

सामान्यरूप से तो पाक्षिक श्रावक में सामान्य श्रावक के सभी लक्षण पाये ही जाते हैं।

भले ही सम्यग्दृष्टि इन्द्रियभोगों और त्रस-स्थावर हिंसा से सम्पूर्णतः विरक्त नहीं है, पर जिनधर्म का श्रद्धानी होने से उनमें प्रवृत्त एवं अनुरक्त भी

---

1. लाटीसंहिता प्रथम सर्ग, श्लोक - 41
2. लाटीसंहिता प्रथम सर्ग, श्लोक - 42
3. कषाय अनुरंजित आत्मा का परिणाम लेश्या है।

नहीं रहता। जो भी प्रवृत्ति देखी जाती है, उसमें उसे खेद वर्तता है, त्यागने की भावना रहती है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के 77वें श्लोक में कहा है कि सामान्य श्रावक को भी अत्यावश्यक - अनिवार्य एकेन्द्रिय जीवों के घात के सिवाय अवशेष एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए और खरकर्म[1] आदि सावद्य कर्म तो कभी करना ही नहीं चाहिए।

सावद्य का सामान्य अर्थ है हिंसाजनक प्रवृत्ति। यद्यपि पूजा एवं जिनमंदिर का निर्माण आदि कार्य भी सावद्य है, पर ये धर्म के सहकारी व आयतन होने से कथंचित ग्राह्य कहे गये हैं; परन्तु खरकर्म आदि जो लौकिक सावद्य व्यापार है, जिनमें बहुत जीवघात होता है, वे तो सर्वथा त्याज्य ही हैं।

पाक्षिक श्रावक जिनेन्द्रदेव संबंधी आज्ञा का श्रद्धान करता हुआ हिंसा को छोड़ने के लिए सबसे पहले मद्य-मांस-मधु और पंच-उदुम्बर फलों को छोड़ देता है। अपनी शक्ति को नहीं छिपानेवाला यह पाक्षिक श्रावक पाप के भय से स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के त्याग का अभ्यास करता है। यह पाक्षिक श्रावक देवपूजा आदि श्रावक के षट् आवश्यक कर्त्तव्यों को शक्ति के अनुसार नित्य करता है। सामान्यत: रात्रिभोजन का त्यागी होता है, परन्तु कदाचित् रात्रि में ताम्बूल लवंगादि ग्रहण कर लेता है। आरंभ आदि में संकल्पी हिंसा नहीं करता।

सावयधम्म दोहा के 242वें दोहे में कहा गया है कि पाक्षिक श्रावक मद्य-मांस-मधु का परिहार करता है, पंच-उदुम्बर फलों को नहीं खाता, क्योंकि इन आठों के अन्दर भारी त्रसजीव उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मुलगुणों का कथन भले ही चारित्र के

1. प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न करनेवाला व्यापार खरकर्म कहलाता है। खरकर्म अर्थात् क्रूर व्यापार। जिनमें अधिक स्थावरों की हिंसा हो वह भी

प्रकरण में किया गया हो, पर ये होते तो अव्रती की प्राथमिक भूमिका में ही हैं। इस कारण यद्यपि ये मूलगुण संयम या चारित्र नहीं हैं, फिर भी महत्त्वपूर्ण हैं और अत्यन्त आवश्यक हैं।

ज्ञानी गृहस्थ की भावना व कर्त्तव्य

सम्यग्दृष्टि की भावना तो मुनि बनने की ही होती है। वह विचारता है कि अहो ! मैं कब चैतन्य में लीन होकर सर्वसंग का परित्यागी होकर मुनिमार्ग में विचरण करूँ। तीर्थंकर मुनि बनकर चैतन्य के जिस मार्ग पर विचरे, मैं भी उसी मार्ग पर विचरण करूँ - ऐसा धन्य स्व-काल कब आयेगा? धर्मीजीव आत्मा के भानपूर्वक इसप्रकार मुनि बनने की भावना भाते हैं।

ऐसी भावना होते हुए भी निज पुरुषार्थ की मंदता से और निमित्तरूप में चारित्रमोह की तीव्रता से तथा कुटुम्बी जनों के आग्रहवश स्वयं ऐसा मुनिपद ग्रहण नहीं कर सके तो उस धर्मात्मा को गृहस्थपने में रहकर देवपूजा आदि षट्कर्मों का पालन करना चाहिए।

भगवान जिनेन्द्र की पूजा, निर्ग्रन्थ, गुरुओं की उपासना, वीतरागी जैनशास्त्रों का स्वाध्याय, संयम, तप और दान - ये छह कार्य गृहस्थ श्रावक को प्रतिदिन करने योग्य हैं।

मुनिपना न हो सके तो दृष्टि की शुद्धतापूर्वक - इन छह कर्तव्यों द्वारा श्रावकधर्म का पालन तो अवश्य करना चाहिए।

भाई ! ऐसा अमूल्य मनुष्यजीवन प्राप्त कर यों ही गँवा दे और सर्वज्ञ की पहिचान न करे, सम्यग्दर्शन का सेवन न करे, शास्त्र-स्वाध्याय न करे, धर्मात्मा की सेवा न करे और कषायों की मन्दता न करे तो इस जीवन में तूने क्या किया ?

- श्रीकानजीस्वामी : श्रावक धर्मप्रकाश, पृष्ठ- 40

मद्य-त्याग

गुड़, जौ, महुआ, द्राक्ष आदि अनेक वस्तुओं को सड़ाकर मद्य बनती है। वस्तुओं को सड़ाने से उसमें असंख्य कीटाणुओं की उत्पत्ति हो जाती है। इसप्रकार मद्य अगणित जीवों का पिण्ड मात्र है। मद्यपान करने से उनकी दर्दनाक मौत का महापाप मद्यपान करनेवाले को लगता है, जिसका फल नरक-निगोद है।

मद्यपान से न केवल पाप होता है, साथ में इस मद्य के सेवन से सर्वप्रथम तो बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट होने से व्यक्ति विवेकशून्य हो जाता है। मद्य कामोत्तेजक होती है, इसे पीनेवाला कामासक्त हो जाता है। परिणाम यह होता है कि वह अन्याय-अनीति रूप क्रियाएँ करने लगता है। इससे उसे संसार में सदा संक्लेश और दुःख उत्पन्न होता है।[1]

मद्यपान करनेवाले की प्रतिष्ठा तो धूल-धूसरित होती ही है, स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

मद्यपान करनेवाला व्यक्ति नशे में अपने हृदय के सब भावों को लीलामात्र में ही प्रगट कर देता है। मद्यपान से मनुष्य की कान्ति, कीर्ति, बुद्धि और नानाप्रकार की सम्पत्ति क्षणमात्र में विनाश को प्राप्त हो जाती है।

जो मदिरा इन्द्रियों के सम्पूर्ण विकास को रोक देती है, शरीर में शिथिलता उत्पन्न करती है और चेतनता को निर्दयतापूर्वक हर लेती है - ऐसी मदिरा क्या विष के समान नहीं है?

यह सुरा सैकड़ों पापों की जड़ है, इसका सेवन मन को विमोहित कर देता है। विमोहित चित्तवाला पुरुष सभी शुभकार्य करना छोड़ देता है, धर्म को छोड़ देता है, जीवघात करने लगता है। इसतरह पाप में प्रवृत्त हुआ

1.लाटी संहिता प्रथमसर्ग : श्लोक 67 व 70

प्राणी मरकर नरक में चला जाता है, नारकी बन जाता है।[1]

नीतिशास्त्र कि प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नीति वाक्यामृत' में कहा है कि- ''शराबी मनुष्य मानसिक भ्रम के कारण अपनी माँ को भी सेवन करने में तत्पर हो जाता है।''

शराब के त्याग की प्रेरणा देते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि - मदिरा मन के मोह का कारण होने से, सांसारिक आपदाओं का आलय होने से एवं लोक व परलोक में दोष कारक होने से मानव को इस मद्यपान का सदैव के लिए त्याग करना चाहिए।[2]

आगे कहते हैं कि मद्य न केवल मादक है, अपितु वह हिंसामूलक भी है और आत्मा का पतन करनेवाली भी है।

इस शराब के पीने से उसमें उत्पन्न हुए जीवों के समूह तत्काल मर जाते हैं तथा काम, क्रोध, भय, भ्रम आदि पाप बढ़ानेवाले परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी शराब का पीना तुरंत छोड़ देना चाहिए।

आचार्य अमृतचंद्र भी यही कहते हैं -

मद्यं मोहयति मनो मोहित चित्तस्तु विस्मृतं धर्मम् ।
विस्मृतधर्मः जीवो हिंसामविशंकमाचरति ॥62॥[3]

मद्य मन को मोहित करती है, मोहित मनवाला धर्म को भूल जाता है तथा धर्म को भूला हुआ व्यक्ति निडर व निशंक होकर हिंसा में प्रवृत्त हो जाता है।

इसतरह मद्य के सेवन में कोई एक दो ही दोष हों - ऐसी बात नहीं है, यह तो दोषों का समुद्र है, हिंसा का आयतन है।

सागार धर्मामृत में कहा है कि मद्य में उत्पन्न होनेवाले रसज जीव सदा

---

1. श्रावक सारोद्धार तृतीय परिच्छेद श्लोक 12 एवं 15
2. श्रावक सारोद्धार, श्लोक - 17 व 21
3. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक - 62

ही उत्पन्न होते रहते है और मरते रहते हैं। मद्य की एक-एक बूंद में मद्य के ही रूप-रस के धारक अनंतजीव होते हैं।

मद्य की एक बूँद में उत्पन्न होनेवाले जीव यदि संचार करें, फैल जावें तो समस्त तीनलोकरूप संसार को पूर देंगे - इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

ऐसी मद्य को पीने से मद्य के सभी जीव तत्काल मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इसतरह मद्यपान करने से जो हिंसा होती है, उसके फल में उसे नियम से नीचगति ही प्राप्त होती है।

यदि स्वयं को दुर्गति के दु:खों में नहीं डालना हो तो मद्य को पीना तो दूर, उसे छूना भी नहीं चाहिए।

मद्य का व्यसन ऐसा दुर्व्यसन है कि जो इसे एकबार पकड़ लेता है, फिर यह उसे जीवनभर के लिए जकड़ लेता है। इससे घर-परिवार तो बिगड़ता ही है, कई पीढ़ियों तक इसका असर रहता है। जो स्वयं मद्य पीता हो, वह अपने पुत्र-पौत्रों को किस मुँह से मना कर सकता है। फिर उसकी गति साँप-छछुन्दर जैसी हो जाती है। गले में अड़े छछुन्दर को साँप न निगल पाता है, न उगल पाता है, निगलता है तो पेट फटता है, उगलता है तो अंधा हो जाता है। यही स्थिति शराबी की होती है, पीना छोड़ भी नहीं पाता और ढंग से पी भी नहीं सकता। उसका शेष जीवन रोते-रोते पश्चात्ताप करते-करते ही बीतता है।

दु:ख की बात तो यह है कि ऐसा कोई चलचित्र या टेलीविजन (टी.वी.) सीरियल नहीं होता, जिसमें येन-केन-प्रकारेण मदिरापान करते हुए न दिखाया जाये। चाहे खुशी का प्रसंग हो या खेद-खिन्नता का – दोनों ही दशाओं में शराब बीच में आये बिना नहीं रहती। यही कारण है कि इसका प्रचार-प्रसार दिनों-दिन बढ़ रहा है।

यद्यपि यदा-कदा इन टी.वी. और सिनेमा के माध्यमों से मद्यपान से होनेवाली हानि एवं बर्बादी के चलचित्र दिखाकर इससे बचाने/बचे रहने

की प्रेरणा भी दी जाती है, पर साथ ही उसे ही परेशानियों से बचने का एकमात्र उपाय बताकर उसे प्रतिष्ठापित भी कर दिया जाता है , जो सर्वथा अनुचित है; क्योंकि यह तो परिस्थिति को पीछे धकेलना हुआ, इसमें समस्या का समाधान कहाँ है? इससे तो समस्याओं से जूझने की शक्ति व विवेक भी समाप्त हो जाता है।

लोग बुराई को जल्दी ग्रहण करते हैं, भले ही उसके प्रदर्शन का उद्देश्य पवित्र हो, पर उद्देश्य की गहराई तक कितने लोग पहुँच पाते हैं। अधिकांशत: तो उससे परिचित हो जाने से उसका दुरुपयोग ही करते हैं।

हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि मद्य सब बुराइयों की मूल जड़ है। सब पापों की अगुआ है; इसके सेवन से मनुष्य को हिताहित का ज्ञान नहीं रहता तथा हिताहित का ज्ञान न रहने से मानव संसाररूपी जंगल में भटकानेवाला कौन-सा पाप नहीं करता?[1]

मद्येन यादव: नष्टा नष्टा द्यूतेन पाण्डव: ।
इति सर्वत्र लोकेस्मिन् सुप्रसिद्धं कथानकम् ॥

लोक में यह कथा प्रसिद्ध है कि मद्यपान से यादव बर्बाद हो गये और जुआ खेलने से पाण्डव।

जैनेतर धर्म ग्रन्थों में भी मद्यपान का निषेध किया गया है। महाभारत में कहा गया है कि –

गौडी पेष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैव एका तथा सर्वा न पातका द्विजोत्तमै: ॥

मद्य तीन प्रकार की होती है - गौडी, पेष्टी व माध्वी। इन तीनों में जैसी एक, वैसी ही सब। अत: ब्राह्मणों को यह सुरापान नहीं करना चाहिए।[2]

इसी ग्रन्थ में आगे कहा है कि जो ब्राह्मण एकबार भी मद्य पीता है, उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है, वह शूद्र हो जाता है।[3]

1. यशास्तलकचम्पू श्लाक 256, 257 2. महाभारत अध्याय 11 श्लाक 84
3. महाभारत अध्याय 11 श्लोक 86

मांस-त्याग

यह तो सब जानते ही हैं कि प्राणियों की हिंसा किए बिना मांस उत्पन्न नहीं होता। तथा यह भी सभी लोग अच्छी तरह समझते हैं कि प्राणिघात करना महापाप है, इससे स्वर्ग नहीं मिलता। इसलिए सुखाभिलाषी को मांस का खाना, खिलाना त्याग देना चाहिए।[1]

मांस के लिए जीवों को मारनेवाला, मांस का दान देनेवाला, मांस पकानेवाला, मांस खाने का अनुमोदन करनेवाला, मांसभक्षण करनेवाला मांस को खरीदने-बेचने वाला - ये सभी दुर्गति के पात्र हैं।[2]

जो मनुष्य अपने शरीर की पुष्टि की अभिलाषा से मांस खाते हैं, वस्तुत: वे ही प्राणियों के घातक हैं, क्योंकि मांस खानेवालों के बिना जीववध करनेवाला इस लोक में कभी कोई नहीं देखा गया।

मांस की माँग व पूर्ति ही जीववध को बढ़ावा देती हैं। अत: मांसाहारी ही मूलत: जीव हिंसा के दोषी हैं।

जो व्यक्ति शरीर के पोषक सुखद सात्त्विक उत्तम अन्नाहार और फलाहार शाक-सब्जी आदि भोज्य पदार्थों को छोड़कर मांस खाने की इच्छा करते हैं, वे मानो हाथ में आये हुए अमृत रस को छोड़कर कालकूट विष को खाने की इच्छा करते हैं।

जो मनुष्य यह कहते हैं कि मांस खाने में कोई दोष नहीं है, वे लोग मनुष्य के रूप में भेड़िया, सिंह, गिद्ध, स्वान, व्याघ्र, श्रृगाल और भीलों की

---

1. ना कृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
   न च प्राणि बधात् स्वर्ग: तस्मात् मांस विबर्जयेत्॥ - उमास्वामी श्रावकाचार
2. हंता दाता च संस्कर्ता अनयंता भक्षकस्तथा।
   क्रेता पलस्य विक्रेता य: स: दुर्गति भाजनं॥ - उमास्वामी श्रावकाचार

संख्या ही बढ़ा रहे हैं।[1]

इसी संबंध में आचार्य अमृतचन्द्र का चिन्तन भी द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं कि - प्राणिघात के बिना मांस की उत्पत्ति संभव नहीं है, अत: मांस को खानेवाले पुरुषों के अनिवार्यरूप से हिंसा होती ही है।

जो स्वयं ही अपनी मौत मरे हुए भैंस, बैल, गाय आदि पशुओं का मांस है, उसके सेवन में भी उस मांस के आश्रित रहनेवाले असंख्य-अनंत सूक्ष्म निगोदिया जीवों के विनाश से हिंसा होती है।

कच्ची, पकी या पक रही मांस की पेशियों में उसी पशु की जाति के अनंत निगोदिया जीवों की निरंतर उत्पत्ति होती है। अत: जो व्यक्ति कच्ची या पकी हुई मांसपेशी को खाता है या छूता भी है, वह अनेक कोटि जीवों का घात करता है। अत: मांस सर्वथा अभक्ष्य है।[2]

मांस स्वभाव से ही अपवित्र है, दुर्गन्धभरा है, दूसरों के प्राणघात से ही मांस का उत्पादन होता है तथा कसाई के घर जैसे दु:स्थान से प्राप्त होता है और फलकाल में दुर्गति का कारण है। ऐसे मांस को भले आदमी कैसे खा सकते हैं ?

जिस पशु-पक्षी को हम मांस खाने के लिए मारते हैं, यदि वह हमें दूसरे जन्म में न मारता होता, बदला न लेता होता तो भले हम पशु हत्या कर लेते अथवा मांस के बिना जीवन का अस्तित्व ही संभव न होता तो भी पशुहत्या करने का कुछ औचित्य समझ में आ सकता था; परन्तु ऐसी बात नहीं है। मांस के बिना भी हमारा जीवन चलता ही है और हम जिसकी हत्या करेंगे, अवसर आने पर वह भी हमारा मांस नोंच-नोंच कर खायेगा ही, फिर भी हम ऐसी मूर्खता क्यों करते हैं? यह बात गंभीरता से विचारणीय है।[3]

---

1. श्रावकाचार सारोद्धार, तृतीय परिच्छेद, श्लोक 27-31
2. आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक - 66, 68
3. यशस्तिलकचम्पू : उपासकाध्ययन, श्लोक 264-265

श्रमणसंस्कृति के सिवाय वैदिक संस्कृति में भी मांसाहार को अभक्ष्य और अखाद्य तो बताया ही है, उसका निषेध भी किया है।

महाभारत समस्त हिन्दू समाज का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है, उसमें मांसाहार का निषेध करते हुए कहा गया है कि –

यदि खादको न स्यात् न तदा घातको भवेत्।
घातकः खादकार्थाय तद् घातयति वै नरः॥

यदि कोई मांस खानेवाला ही न हो तो कोई भी किसी बकरे, मछली, मुर्गे आदि को न मारे। मांस खानेवालों के लिए तो घातक यानि धीवर, खटीक व कसाई आदि पशु-पक्षियों और जीवजंतुओं को मारते हैं।

इस कारण मांस खानेवाला जीव हिंसा करनेवाले से भी अधिक पाप के फल का भागी है। यदि कोई मांस खायेगा ही नहीं तो बिना कारण कोई जीवों को क्यों मारेगा?

महाभारत के ही अनुशासनपर्व में इस संबंध में धर्मराज युधिष्ठिर और भीष्मपितामह का एक अत्यन्त प्रभावोत्पादक संवाद द्रष्टव्य है –

युधिष्ठिर – हे पितामह! आपने बहुत बार कहा है कि अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है। मैं जानना चाहता हूँ कि मांस खाने से क्या-क्या हानि होती है?

भीष्म – हे युधिष्ठिर! जो मनुष्य सुन्दर रूप, सुडौल शरीर, उत्तम बुद्धि, सत्त्व, बल और स्मरण शक्ति प्राप्त करना चाहता हो, उसे हिंसा का सर्वथा परित्याग करना चाहिए। इस विषय में ऋषियों ने जो सिद्धान्त निश्चित किया है, वह बताता हूँ।

स्वयंभुव मनु का वचन है कि - जो मनुष्य न मांस खाता है, न पशु-हिंसा करता है और न दूसरों से हिंसा करवाता है; वह सारे प्राणियों का मित्र है।

नारद ने कहा है कि - जो मनुष्य दूसरों के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उसे अवश्य दुःख उठाना पड़ता है।

बृहस्पति का कथन है कि - जो मनुष्य मधु और मांस त्याग देता है,

उसे दान, यज्ञ और तप का फल मिलता है।

मांस घास, लकड़ी या पत्थर से नहीं निकलता। वह तो जीव हत्या से ही मिलता है; इसलिए उसे खाने में महान दोष है। जो लोग सदा मांस भक्षण करते हैं, उन्हें राक्षस समझना चाहिए। हिंसक लोग ही पशु-पक्षियों की हत्या करते हैं। यदि मांस को अभक्ष्य समझकर सब लोग उसे खाना छोड़ दें तो जीव-जन्तुओं की हत्या अपने आप बन्द हो जाये।

नियम पालन करनेवाले महर्षियों ने मांस-भक्षण के त्याग को धन, यश, आयु तथा स्वर्ग की प्राप्ति का प्रधान साधन बताया है।

हे युधिष्ठिर! पूर्वकाल में मैंने महर्षि मार्कंडेय से मांस भक्षण के जो दोष सुने हैं, उन्हें बताता हूँ।

जो मनुष्य जीवित प्राणियों को मारकर अथवा उसके मर जाने पर, उनका मांस खाता है; वह उन प्राणियों का हत्यारा ही माना जाता है। जो मांस खरीदता है, वह धन से; जो खाता है, वह उपयोग से और जो मारनेवाला है; वह शस्त्रप्रहार करके पशुओं की हिंसा करता है। इसप्रकार तीन तरह से प्राणियों की हत्या होती है। जो स्वयं तो मांस नहीं खाता, पर खानेवालों का अनुमोदन करता है, वह भी भावदोष के कारण मांसभक्षण के पाप का भागी होता है। इसीप्रकार जो मारनेवाले को प्रोत्साहन देता है, उसे भी हिंसा का पाप लगता है।

इसप्रकार विद्वानजन अहिंसारूप परमधर्म की प्रशंसा करते हैं। अहिंसा परमधर्म है, परमतप है और परमसत्य है। अहिंसा से ही धर्म उत्पन्न होता है।

मांसाहार का दुष्परिणाम बताते हुए वैष्णवधर्म के ही दूसरे ग्रन्थ 'विष्णुपुराण' में कहा गया है कि –

यावन्ति पशुरोमाणि पशुमात्रेषु भारत।
तावद् वर्ष सहस्राणि पंचयते पशुघातकः॥

हे राजन्! जो मनुष्य जिस पशु को मारता है, वह उस मरे हुए पशु के

शरीर में जितने रोम हैं; उतने ही हजार वर्षपर्यन्त नरक में दु:ख भोगता है।

इसी 'विष्णुपुराण' में आगे मांसाहार के त्याग का सुफल बताते हुए कहा है कि –

सर्वमांसानि यो राजन्! यावज्जीवं न भक्षयेत्।
स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयात् नैव संशय: ॥

हे राजन्! जो किसी भी जीव के मांस को जीवनपर्यन्त नहीं खाता; वह नि:संदेह स्वर्ग में ऊँचे दर्जे का देव होता है।

मांसाहार का निषेध करते हुए हिन्दूधर्म के ही तीसरे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मनुस्मृति' में तो यहाँ तक कह दिया है कि –

जिस प्राणी का मांस मैं यहाँ खाता हूँ, वही प्राणी परलोक में मेरा मांस खाता है। यही मांस की मांसता है। ऐसा मनीषियों ने कहा है।[1]

चारित्रसार में आये हुए श्रावकाचार प्रकरण में भी यही भाव प्रगट करते हुए कहा है कि मांसाहारी यह क्यों नहीं सोचता, अथवा वह इस बात को क्यों भूल जाता है - कि जिस पशु-पक्षी का मांस वह खा रहा है, वही पशु-पक्षी जब परलोक या अगले जन्म में मेरी जीवित अवस्था में ही मेरा मांस नोंच-नोंच कर खायेगा उस समय मुझ पर क्या बीतेगी?[2]

इसीलिए तो कहा गया है कि –

"आत्मन: प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् अर्थात् दूसरों का जो व्यवहार स्वयं को अच्छा न लगे, वैसा व्यवहार हम दूसरों से न करें।"

मांसाहारी पुरुषों की साधुजन भी निंदा करते हैं और वह परलोक में भी भारी दु:ख भोगता है।

मांसाशिनं साधवो निन्दन्ति प्रेत्यच दु:खभाग भवेत्।

फिर भी न जाने उसकी बुद्धि पर कैसे पत्थर पड़ गये हैं, जिसके कारण

1. लाटी संहिता, प्रथम सर्ग, श्लोक, 55
2. लाटी संहिता, प्रथम सर्ग, श्लोक, 16-18

उसे अपना हिताहित ही भासित नहीं होता। यह भी मांसाहार का ही दुष्परिणाम है, जो उसकी बुद्धि कुंठित हो गई है और अपने भले-बुरे का ज्ञान भी नहीं रहा है।

मांसाहार से होनेवाली मानसिक व शारीरिक हानियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मांस का एक अंश मात्र भी भक्षण करने से जीवों के भाव सब ओर से संक्लेशरूप व क्रूर हो जाते हैं।[1]

क्रूर व संक्लेश परिणाम पापबंध के कारण बनते हैं। वह तीव्र पापबंध जीवों को नानाप्रकार के मानसिक व शारीरिक दु:खों का कारण बनता है। फिर उसे उन दु:खों से कोई नहीं बचा सकता। सभी को अपने किए की सजा भुगतनी ही पड़ती है।

संतकवि श्री तुलसीदासजी ने भी यही भाव व्यक्त करते हुए कहा है –

कर्मप्रधान विश्वकरि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥

अपनी-अपनी करनी का फल तो प्रत्येक प्राणी को भोगना ही पड़ता है, अत: सबको ऐसे निंद्य व हिंस्य कर्म से तो बचना ही चाहिए, जो दुर्गति का कारण हो और जिससे अनंत काल तक असीमित दु:ख उठाना पड़े।

यहाँ किसी को यह आशंका हो सकती है कि हिरण, बकरी, गाय, मेढ़ा और मुर्गा आदि प्राणियों के शरीर के समान उड़द, मूंग, गेहूं, चावल और साग-सब्जी व फलादि भी तो प्राणी का अंग होने से मांस ही है। अत: यदि अन्न आदि भक्ष्य हैं तो मांस भी भक्ष्य ही होना चाहिए। जीवों के संयोग की अपेक्षा तो सभी समान ही हैं न? जैसा पशु-पक्षियों के शरीर में जीव का संयोग है, वैसे ही साग-सब्जी व अन्न में भी जीव का संयोग होता है।

जिनागम में इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि सभी प्रकार का मांस तो जीवों का ही शरीर है, पर सभी जीवों का शरीर मांस नहीं होता।

---

1. लाटी संहिता, प्रथम सर्ग, श्लोक, 51-64

जीव दो प्रकार के होते हैं, एक स्थावर और दूसरे त्रस। त्रस जीवों का शरीर मांसमय होता है, दो इन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सभी त्रसकाय कहे जाते हैं, इन सबका शरीर मांसमय होता है तथा सभी प्रकार के अन्न, फल, साग आदि और पानी स्थावर जीव हैं, इन सबके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, इन एकेन्द्रिय जीवों का शरीर मांसरहित होता है। इनके खाने से मांस का दोष नहीं लगता। अत: अन्न, फल व साग-सब्जी तो भक्ष्य है; किन्तु मांस अभक्ष्य है, खाने योग्य नहीं है।

देखो, अपनी माँ तो स्त्री है, पर सभी स्त्रियाँ मां तो नहीं हैं। इसीतरह मांस तो जीवों का शरीर है; पर सभी जीवों का शरीर मांस नहीं है। तथा जिसतरह नारी जाति की अपेक्षा सभी स्त्रियाँ समान होने पर भी पत्नी भोग्य है और मां भोग्य नहीं है; बल्कि पूज्य है, उसी तरह जीव जाति की अपेक्षा त्रस व स्थावर सभी जीव होने पर भी स्थावर जीवों का शरीर भक्ष्य है और त्रस जीवों का नहीं।

और भी देखो, दूध और मांस दोनों ही गाय के अंग हैं, गाय में उत्पन्न होते हैं उनमें दूध तो शुद्ध है – भक्ष्य है और मांस अशुद्ध है – अभक्ष्य है। इसप्रकार की वस्तुगत ही यह विचित्रता है। कहा भी है –

हेयं पलं पय: पेयं समे सत्यपि कारणे।
शुद्धदुग्धं न गोमांसं वस्तु वैचित्र्यमीदृशम्॥

दूध और मांस दोनों के कारण समान होने पर भी दोनों एक ही शरीर से उत्पन्न होने पर भी मांस हेय है और दूध पेय है।

देखो वैष्णव संस्कृति में भी गाय से ही उत्पन्न होनेवाले दूध, दही, घी, आदि पंचगव्यों को तो ग्राह्य कहा है तथा गाय से उत्पन्न होनेवाले गोरोचन को तो पूजा प्रतिष्ठा आदि शुभ कार्यों में भी उपादेय कहा है, किन्तु गोमांस भक्षण न करने की शपथ दिलाई है।

इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि अन्न, फल व वनस्पति भी प्राणी

के अंग होने से मांस की तरह ही अभक्ष्य हैं।

वस्तुत: बात यह है कि दूध, दही, अन्न, फल व खाद्य सब्जियाँ भक्ष्य हैं और मांस सर्वथा अभक्ष्य है।

इस संदर्भ में कुछ ऐसे भी ज्वलंत प्रश्न किए जाते हैं, जिनके समाधान अपेक्षित हैं, जैसे कि -

□ जो लोग शौक से अपनी इच्छा पूर्ति के लिए मद्य-मांस का सेवन करते हैं, उनकी बात तो वे जाने; परन्तु बहुत से व्यक्ति ऐसे भी हैं, जिन्हें मांसाहार जरूरी है, या मांस खाना और जीवों का वध करना जिनकी मजबूरी है, जैसे–भील, धीवर, कसाई आदि लाखों लोग आज इस आजीविका से जुड़े हैं, यदि सभी मांसाहार त्याग दें तो उनका क्या होगा? जिनका जन्म-जन्मान्तरों एवं पीढ़ी-दर-पीढ़ियों से मांसाहार ही मुख्य भोजन रहा है, वे उसके बिना कैसे जीवित रह सकते हैं?

□ दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि यदि मछलियों, मुर्गों, बकरों, भेड़ों आदि मांसोत्पादक पशुओं को मांस के लिए मारा नहीं जाएगा तो इनकी संख्या इतनी अधिक बढ़ जाएगी कि लोक में समायेगी ही नहीं, तब क्या होगा?

□ तीसरी समस्या यह उपस्थित होती है कि यदि सभी मनुष्य मांस खाना छोड़ दें तो भारी संख्या में मनुष्य जाति भूखों मर जाएगी, क्योंकि इतना अनाज कहाँ से लाया जायगा? मांसाहार से अनाज की भारी बचत होती है। मांस अन्न का पूरक है। इस समस्या से कैसे निबटा जायेगा?

□ मांसाहार के पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि मांस खाने से मांस बढ़ता है। मांस सीधे मांस की पूर्ति कर देता है। अत: मांसाहार का सर्वथा निषेध कैसे किया जा सकता है?

उत्तर :- ओ भाई! ऐसे तर्क तो पक्ष व विपक्ष में बहुत दिए जा सकते हैं, पर वास्तविक बात यह है कि सभी मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी ही हैं।

मनुष्य की शारीरिक संरचना ही ऐसी है, जिसमें मांस पचाने की शक्ति ही नहीं होती; फिर भी जो मजबूरी से मांस खाते हैं, वे अनेक बीमारियों से घिर जाते हैं, क्योंकि उनकी आँते अतिरिक्त बोझ कबतक सह सकती हैं ?

किसी कवि ने ठीक ही कहा है -

मनुज प्रकृति से शाकाहारी
मांस उसे अनुकूल नहीं है।
पशु भी मानव जैसे प्राणी,
वे मेवा फल-फूल नहीं हैं॥

दूसरे मजबूरी की जो बात कही जाती है, वह भी निराधार है, क्योंकि मांस मिलना इतना सरल भी नहीं है, जितना अन्न-फल व साग-भाजी आदि। मांस तो हमेशा साग-भाजी व अन्य अन्न से महँगा व दुर्लभ होता है, फिर मजबूरी कैसी?

निर्दय परिणामों के बिना मांसाहार संभव ही नहीं है। यह शारीरिक शक्ति के लिए जरूरी भी नहीं है, क्योंकि इसके बिना भी सबसे अधिक श्रम करनेवाला घोड़ा घास व अन्न खाकर अपनी शक्ति का संचय कर लेता है।

जहाँ तक बढ़ती हुई संख्या की समस्या है, उसे प्रकृति स्वयं संतुलित रखती है। मनुष्यों को इसकी चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। तथा अकेला अन्नाहार राष्ट्र की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकता - यह तर्क भी निराधार है, क्योंकि मांसोत्पादन करने के बजाय हम अन्नोत्पादन का ही अभियान क्यों न चलाएँ? कितनी जमीन बिना जुती यों ही बंजर पड़ी है। हम चाहें तो सब समस्याएँ सुलटा सकते हैं, बशर्ते यदि मांसाहार की हानियाँ हमारी समझ में आ जावें।

अत: हमारा कर्तव्य है कि हम सब इसकी अधिक से अधिक चर्चा करें और लोगों को सत्य ज्ञान करायें, ताकि मांसाहार से होनेवाली हिंसा के पाप और शारीरिक स्वास्थ्य हानि से बचा जा सके। □

मधुत्याग

मधु (शहद) मधु-मक्खियों द्वारा संचित फूलों का रस है, पर वास्तव में देखा जाये तो यह अनेक अभक्ष्य पदार्थों का एक ऐसा घृणित मधुर मिश्रण है, जिसमें न केवल फूलों का रस है, वरन् इसमें मधु-मक्खियों का मृत कलेवर, उनके अंडे और भ्रूण भी मिले होते हैं, मधु-मक्खियों का मल-मूत्र भी मिला होता है और मिली होती है मधु-मक्खियों के मुंह की लार, क्योंकि मुँह में वे फूलों का रस चूस-चूस कर लाती हैं।

मधु प्राप्त करने की प्रक्रिया से कौन परिचित नहीं है? मधु प्राप्त करने का अर्थ है लाखों मधु-मक्खियों की दर्दनाक मौत, हजारों मक्खियों को बे-घर करना तथा असंख्य अंडों और भ्रूणों को निर्दयतापूर्वक मसल देना।

मधु तोड़नेवाले सबसे पहले मधुछत्ते पर प्राणघातक हमला करते हैं, गहरा धुँआ करके मक्खियों को मार भगाते हैं, फिर उनके घर-परिवार को नष्ट करके उनकी जीवनभर की संग्रहीत सम्पत्ति को छीन लेते हैं।

काश! कोई हमारे साथ और हमारे घर-परिवार के साथ ऐसा निर्दयता पूर्ण व्यवहार करे तो हम पर क्या बीतेगी? क्या कभी मधु खानेवालों ने यह कल्पना भी की है?

मधु का उत्पादन तो अतिनिर्दयतापूर्वक होता ही है, वह स्वयं भी अनन्त जीवों का कलेवर है। इसतरह मधु संचय करने में एवं उसके खाने-पीने में जो लाखों जीवों की हिंसा होती है, वह तो प्रत्यक्ष है ही, साथ ही उस मधु में मांस-मदिरा की भाँति रसज त्रस जीव भी निरन्तर पैदा होते रहते हैं और मरते रहते हैं, इसकारण मांस-मदिरा की भाँति ही मधु भी अत्यन्त हेय है। आगम इसका साक्षी है –

मधु सकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्माकं भवति लोके।
भजति मधुमूढधीर्यो सः संभवति हिंसकोऽत्यन्तम्॥

मधु की एक-एक बूँद मधुमक्खी की हिंसारूप होती है। अत: जो मन्दमति मधु का सेवन करता है, वह अत्यन्त हिंसक है।

स्वयमेव विगलितं यो ग्रहणीयाच्छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्॥[1]

छल द्वारा मधु के छत्ते से मधु प्राप्त करने में अथवा स्वयमेव चुए हुए मधु को ग्रहण करने से भी हिंसा तो होती ही है, क्योंकि उसके आश्रित रहनेवाले अनेक क्षुद्र जीवों का घात तो होता ही है।

बहुजीवप्रघातोत्थं बहुजीवोद्भवास्पदम्।
असंयमविभीतेन त्रेधा मध्वपि वर्जयेत्॥[2]

संयम की रक्षा करनेवालों को बहुत जीवों के घात से उत्पन्न तथा बहुत जीवों की उत्पत्ति के स्थानभूत मधु को मन-वचन-काय से छोड़ देना चाहिए।

योऽत्ति नाम भेषजेच्छया सोऽपि याति लघुदु:खमुल्वणम्।
किं न नाशयति जीवितेच्छया अक्षितं झटिति जीवितम् विषम्॥[3]

जो औषधि की इच्छा से भी मधु खाता है, सो भी तीव्र दु:ख को शीघ्र प्राप्त होता है; क्योंकि जीने की इच्छा से खाया हुआ विष क्या शीघ्र ही जीवन का नाश नहीं कर देता?

माक्षिकं मक्षिकानां हि मांसासृकपीडनोद्भवम्।
प्रसिद्धं सर्वलोके स्यादागमेष्वपि सूचितम्॥[4]

मधु की उत्पत्ति मक्खियों के मांस व रक्त आदि के निचोड़ से होती है, यह बात सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध है तथा शास्त्रों में भी यही बात बतलाई गई है।

इसके अतिरिक्त मधु मधुमक्खियों का मल-मूत्र और वमन होने से ग्लानि युक्त भी है, क्या कोई व्यक्ति किसी के मुँह का उगला हुआ कौर

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक -70
2. योगसार, अध्याय 8, श्लोक - 62
3. अमितगति श्रावकाचार 5/32
4. लाटी संहिता श्लोक 2/72

(ग्रास) खा सकता है ? यदि नहीं तो फिर मधु मक्खियों के मुँह से उगली हुई मधु कोई कैसे खा सकता है ? ध्यान रहे, मधु में मधुमक्खियों का मल-मूत्र भी मिला रहता है, क्योंकि उनके छत्ते में पृथक् से मूत्रालय व शौचालय की व्यवस्था नहीं होती।

इसप्रकार युक्ति व आगम से यह सिद्ध है कि मधु के खाने में मांस खाने का दोष लगता है, क्योंकि मधुमक्खियाँ स्वयं भी त्रसजीव होने से उनका कलेवर भी मांस ही है।

इसके सिवाय एक बात यह भी है कि जिसप्रकार मांस में सूक्ष्म निगोदिया जीव उत्पन्न होते व मरते रहते हैं, उसीप्रकार मधु में भी सदा जीवोत्पत्ति होती रहती है।

आचार्य वसुनन्दि ने प्रसिद्ध ग्रन्थ वसुनन्दिश्रावकाचार में आश्चर्य प्रगट करते हुए कहा है कि जो मनुष्य भोजन में पड़ी हुई मक्खी को देखकर मुँह के ग्रास को उगल देता है, थूक देता है; वही मनुष्य लाखों मधुमक्खियों एवं उनके असंख्य अंडों को निर्दयता पूर्वक निचोड़कर निकाले गये मधु को कैसे खा-पी जाता है ? यह बड़े आश्चर्य की बात है।

मूल गाथा इसप्रकार है -

दट्ठूण असण मज्झे पडियं जइमच्छियंपि णिट्ठिवइ।
कह मच्छियंडयाणं णिज्जासं णिग्घिणो पिवइ ॥81॥

इसतरह हम देखते हैं कि हमें पापरूप कीचड़ से निकालने एवं मोक्षमार्ग की पात्रता प्राप्त कराने के लिए हमारे आचार्यों ने भी अपना अमूल्य समय देकर हम पर कैसी करुणा की है। सारी वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्रण हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है, मानो अमृतमय भोजन ही परोसा हो। अब हमारा दायित्व है कि हम श्रावकाचार को यथार्थरूप में अपनाकर उनके श्रम को सार्थक करें। □

पंच-उदुम्बरफल त्याग

जो वृक्ष के काठ को फोड़कर फलें, वे उदुम्बर फल कहलाते हैं। (1) बट (बड़) (2) पिप्पल (पीपल) (3) प्लक्ष (पाकर) (4) ऊमर (गूलर) (5) कठूमर (अंजीर) इन फलों में चलते-फिरते-उड़ते सैकड़ों जीव प्रत्यक्ष आँखों से दिखाई देते हैं। इनके भक्षण से उन जीवों की हिंसा तो होती ही है, परिणामों की मलिनता व क्रूरता भी ज्ञात होती है।

जिसतरह मांसभक्षी के दया नहीं, मद्यपान करनेवाले के पवित्रता नहीं, उसीतरह पंच-उदुम्बर फलों को खानेवालों के अहिंसाधर्म नहीं होता। अत: ये निषिद्ध हैं, त्याज्य हैं।

इन वृक्षों में दूध निकलता है, अत: इनको क्षीरीफल भी कहते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं -

''योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पल फलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥72॥

ऊमर, कठूमर, पिलखन (पाक), बड़, पीपल के फल त्रसजीवों की योनि हैं, इसकारण इनके भक्षण में उन त्रसजीवों की हिंसा होती है।''

इसी सन्दर्भ में लाटी संहिता में पाण्डे राजमल का कथन द्रष्टव्य है -

'उदुम्बरफलान्येव नोदयानि दृगात्मभि:।
नित्यं साधारणान्येव, त्रसांगैराश्रितानि च ॥78॥

सम्यग्दृष्टियों को उदुम्बर फल नहीं खाना चाहिए, क्योंकि वे नित्य साधारण (अनन्तकायिक) हैं तथा त्रस जीवों से भरे हैं।

ये पाँच तो प्रतीकरूप हैं, इन जैसे और भी जो त्रसजीवों की योनियाँ हैं, वे सभी फल त्याज्य हैं।

इस बात की ओर वसुनन्दि श्रावकाचार में हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए आचार्य वसुनन्दि कहते हैं कि ''इन पाँचों उदुम्बर फल, संधानक (आचार) और वृक्षों के फूल - ये सब नित्य त्रसजीवों से संसिक्त-भरे हुए रहते हैं, इसलिए इनका त्याग करना चाहिए।'' □

स्थूल पाप त्याग : मूलगुण

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह - ये पाँच पाप हैं। इनके सामान्य स्वरूप से तो प्राय: सभी परिचित हैं और लगभग सभी लोग इन्हें बुरा भी मानते हैं; अत: इनसे बचना भी चाहते हैं, इन्हें त्यागना भी चाहते हैं तथा अपनी-अपनी योग्यतानुसार यथासंभव इन्हें त्यागते भी हैं।

जिनागम में इन पाँचों पापों के सम्पूर्ण त्याग को महाव्रत एवं आंशिक त्याग को अणुव्रत कहा गया है। जो सामान्य श्रावक इन व्रतों को ग्रहण नहीं कर सकते, वे भी इन पापों का स्थूलरूप से तो त्याग करते ही हैं और करना भी चाहिए; क्योंकि इन स्थूल पापरूप जघन्य अपराधों को छोड़े बिना धर्म की प्राप्ति तो दूर, धर्म की गंध भी नहीं आ सकती। इसी कारण जिनागम में इन पापों के स्थूल त्याग को मूलगुण कहा गया है।

न केवल जैन, जैनेतर भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह संग्रह को पापों के रूप में देखते हैं। जैनेतर धर्म ग्रन्थों में भी इन्हें त्याज्य माना है। पर इनके सम्पूर्ण त्याग की तो बात ही निराली है, इनका आंशिक त्याग कर पाना भी हर व्यक्ति के बल-बूते की बात नहीं है; क्योंकि इनका त्याग केवल इन्हें बुरा मान लेने से नहीं हो जाता। **इनका त्याग करने के लिए विषय-कषायों का मर्यादित होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने के कारण एवं क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषायों के कारण ही तो इन पापों में प्रवृत्ति होती है।** अत: विषय-कषाय कम हुए बिना इनका त्याग कोई कैसे कर सकता है ?

इन पापों का सम्पूर्ण त्याग तो साधु जीवन में ही संभव होता है, क्योंकि वे आत्मज्ञान और तत्त्वाभ्यास के बल पर मोह-राग-द्वेष व विषय-कषायों पर संपूर्णतया विजय प्राप्त कर लेते हैं। ये अणुव्रत भी आत्मज्ञानी नैष्ठिक

श्रावकों के ही होते हैं।

सामान्य श्रावक, जो केवल कुल से जैन हैं, जिन्हें आत्मज्ञान नहीं हैं, तत्त्वाभ्यास नहीं है, उनके नियमरूप से पापों का त्याग तो नहीं हो पाता; पर आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें भी मूलगुणों के रूप में पापों का स्थूल त्याग करना न केवल अत्यावश्यक है, बल्कि अनिवार्य है; क्योंकि ऐसे पाप, जिनके करने पर जेल जाना पड़े, समाज से बहिष्कृत होना पड़े, लोक में निन्दा हो, उनको करता हुआ कोई व्यक्ति तत्त्वाभ्यास व आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि इसके लिए चित्त का शांत व निराकुल होना आवश्यक होता है। आत्मज्ञान तो बहुत दूर की बात है, ऐसे पापी-अपराधी प्राणियों का तो सामान्य जीवन जीना भी दूभर हो जाता है।

गृहस्थ जीवन में विद्यमान हिंसा और अहिंसा को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्यों ने हिंसा का वर्गीकरण चार रूपों में किया है -

(1) संकल्पी हिंसा (2) उद्योगी हिंसा (3) आरंभी हिंसा और (4) विरोधी हिंसा।

केवल निर्दय परिणाम ही हेतु हैं जिसमें- ऐसे संकल्प(इरादा) पूर्वक प्राणघात करना **संकल्पी हिंसा** है। व्यापार आदि कार्यों में तथा गृहस्थी के आरंभ आदि कार्यों में सावधानी वर्तते हुए भी जो हिंसा हो जाती है, वह **उद्योगी** और **आरंभी हिंसा** है। अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन, समाज व देश आदि पर किए गये आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा **विरोधी हिंसा** है।

उपर्युक्त चार प्रकार की हिंसाओं में एक संकल्पी हिंसा का तो श्रावक सर्वथा त्यागी होता है, किंतु शेष तीन प्रकार की हिंसा सामान्य श्रावक के जीवन में विद्यमान रहती है। यद्यपि वह उनसे भी बचने का पूरा-पूरा प्रयत्न करता है, आरंभ व उद्योग में भी पूरी-पूरी सावधानी रखता है, तथापि सामान्य श्रावक संकल्पी हिंसा के सिवाय आरंभी, उद्योगी व विरोधी हिंसा

का त्याग नहीं कर पाता; क्योंकि पारिवारिक जीवन में आजीविका के लिए उसे उद्योग (धंधा-व्यापार) करना पड़ता, उसमें जो हिंसा अनिवार्य है, उसका त्याग वह कैसे करे?

तथा अत्यन्त सावधानी से भोजन बनाने आदि गृहकार्यों में जो आरंभजनित हिंसा होती है, उससे भी वह कैसे बच सकता है? और प्राणरक्षा के लिए संघर्ष करते हुए शत्रुओं की हिंसा से बच पाना भी कठिन है।

इसीप्रकार अष्ट मूलगुणों का धारी सामान्य श्रावक ऐसा स्थूल झूठ भी नहीं बोलता, जिससे राजदण्ड मिले, दूसरों के प्राण पीड़ित हों। किसी के साथ जानबूझ कर धोखा-धड़ी करना, झूठ बोलकर किसी को संकट में डाल देना, ऐसा झूठ बोलना जिससे अपना माथा तो शर्म से झुके ही; घर-परिवार, कुटुम्ब और समाज को भी नीचा देखना पड़े। यह सब स्थूल असत्यपाप है, जो एक सामान्य श्रावक को नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसी प्रवृत्तिवालों को धर्म की प्राप्ति संभव नहीं है।

इसीप्रकार ऐसी चोरी, जिसके पकड़े जाने पर राजदण्ड मिले, लोकनिन्दा हो, कुल कलंकित हो, लोग चोर कहने लगें, वह स्थूल चोरीपाप है, जो एक सामान्य श्रावक को नहीं करना चाहिए।

स्थूल कुशीलपाप के सम्बन्ध में यहाँ केवल इतना जानना पर्याप्त है कि यदि कोई किसी माँ-बहिन-बेटी के विषय में मन में कुत्सितभाव रखता है, तो पापबंध तो उससे भी होता है; परंतु उस पर शासन व समाज रोक नहीं लगा सकता; क्योंकि मन पर नियंत्रण करना शासन व समाज के अधिकार क्षेत्र के बाहर है, मन की कुत्सित प्रवृत्ति को स्थूल कुशीलपाप की सीमा में नहीं ले सकते। अत: किसी पराई माँ-बहिन-बेटी को छेड़ना, उससे अभद्र व्यवहार करना तथा उसका शील भंग करना या शील भंग करने की कुचेष्टा करना स्थूल कुशीलपाप कहा गया है; क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति होने पर ही वह शासन द्वारा व समाज द्वारा दण्डित होता है। सामान्य श्रावक इस पाप का भी

त्यागी होता है।

स्थूल परिग्रहपाप का अर्थ है आवश्यकता से अधिक संग्रह प्रवृत्ति के कारण दिन-रात धनार्जन के चक्कर में ही पड़े रहना। अपने धंधे-व्यापार की समय-सीमा में बिना आकुलता के अपने षट् आवश्यक कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए पुण्ययोग से यदि अधिक धनार्जन भी होता है तो वह स्थूलपरिग्रह पाप नहीं है। परंतु अपनी दैनिक चर्या को अस्त-व्यस्त करके, अनुचित तरीकों से धनार्जन करना स्थूल परिग्रहपाप है।

यदि सामान्य श्रावक इन स्थूल पापों का त्यागी नहीं होगा तो उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इन पाप प्रवृत्तियों के कारण उसका धर्म के साधन की ओर झुकाव होना ही संभव नहीं है।

इसप्रकार निष्कर्ष के रूप में इतना कहना पर्याप्त है कि उपर्युक्त स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह पापों की प्रवृत्ति से न केवल धर्म की हानि होती है, बल्कि इस प्रवृत्ति से सामाजिक प्रतिष्ठा पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है और कुल भी कलंकित होता है। अत: सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए हमें इनसे बचना चाहिए, इनका स्थूल त्याग करना चाहिए। □

हिंसा – सदा यही सोचा करो सुखी रहें सब जीव।
विषय कषाय प्रमाद वश मत घातो त्रसजीव॥

झूठ – बोली बोल अमोल है, सांची बोली बोल।
हिए तराजू तोल कर हित मित प्रिय ही बोल॥

चोरी – मालिक की आज्ञा बिन कोय, चीज गहे सो चोरी होय।
चोरी पाप महादु:ख दाई, लौकिक निन्दा सही न जाई॥

कुशील – व्याही बनिता होय जो, तामे कर संतोष।
त्याग करो पर कामिनी, या सम और न दोष॥

परिग्रह – धन-कन-कंचन आदि में, परिग्रह सीमा ठान।
तृसना नागिन वश करो, यह व्रत मंत्र महान॥

रात्रिभोजन त्याग

निशिभोजन करिए नहीं, प्रगट दोष अविलोय।
परभव सब सुख ऊपजैं, इहभव रोग न होय॥

रात्रिभोजन में प्रत्यक्ष में ही भारी दोष दृष्टिगोचर होते हैं, उन पर गंभीरता से विचार करके रात्रिभोजन का त्याग करो, क्योंकि रात्रि भोजन त्याग से इहभव में तो हम नाना बीमारियों से बचेंगे ही, पुनर्जन्म में भी सभी प्रकार के उत्तमोत्तम सुखों की प्राप्ति होगी।

जो व्यक्ति रात्रि में भोजन करता है, उसके निमित्त से रात्रि में भोजन बनाना भी पड़ता और रात्रि में भोजन बनाने से दिन की अपेक्षा अनेकगुणी हिंसा होती है, क्योंकि रात्रि में सूक्ष्म जीवों का संचार अधिक होता है दिन में जो जीव-जंतु सूर्य के प्रकाश व प्रपात के कारण सोये रहते हैं, घर के अँधेरे कोने में बैठे रहते हैं, वे सूर्यास्त होते ही अपना भोजन ढूँढ़ने के लिए निकल पड़ते हैं। इधर-उधर संचार करते हुए कीड़े-मकोड़े एवं उड़नेवाले सूक्ष्मजीव हमें रात में सहजता से दिखाई नहीं देते। यदि हम गौर से देखें तो उनमें से बहुत कुछ दिख भी जाते हैं।

बिजली के बल्बों पर, ट्यूबलाइटों पर एवं दीपक आदि के ऊपर पतंगों आदि को उछलते-गिरते-पड़ते और मरते किसने नहीं देखा? सूर्यास्त होने पर मच्छरों का जो बोलबाला होता है, उससे तो बच्चा-बच्चा परिचित है ही। जहाँ देखो वहीं ढेरों मच्छर भिन-भिनाते मिल जायेंगे।

रात्रि में भोजन बनाने के लिए जो आग जलाई जाती है, उससे आकर्षित होकर भी छोटे-छोटे जीव-जन्तु भोजनसामग्री में गिरते-पड़ते रहते हैं। उन सबके घात से हिंसा जैसा महापाप तो होता ही है, अनेक शारीरिक भयंकर व्याधियाँ बीमारियाँ भी हो जाती हैं।

निशिभोजनभुंजन कथा में कविवर भूधरदास ने कहा है –

कीड़ी बुध बल हरै, कंपरोग करै कसारी।
मकड़ी कारण कुष्ट रोग उपजै अतिभारी॥
जुँआ जलोदर जनै, फाँस गल व्यथा बढ़ावै।
बाल करे स्वर भंग, वमन माखी उपजावै॥
तालु छिदत बिच्छू भखत, और व्याधि बहु करई थल।
ये प्रगट दोष निसि असन के, परभव दोष परोक्ष फल॥

इतना ही नहीं और भी अनेक पदार्थ हैं, जो रात्रिभोजन में सहज ही हमारे खाने-पीने में आ जाते हैं और हमारी मौत के कारण तक बन जाते हैं।

ऐसी अनेक दुर्घटनाएं आये दिन देखने-सुनने में आती हैं, जो रात्रि भोजन के कारण घटती हैं। अस्तु! इन आकस्मिक हानियों के सिवाय कुछ हानियाँ ऐसी भी हैं, जिनका रात्रि भोजन के साथ चोली-दामन का साथ है। जैसे – सूर्यास्त होने पर जठराग्नि का मन्द हो जाना, पाचन प्रणाली पर विपरीत प्रभाव पड़ना।

वैद्यक शास्त्र अर्थात् आयुर्वेद में उदर स्थित आहार की थैली को जो कमलनाड कहा है, वह सर्वथा सार्थक; है क्योंकि जिसप्रकार कमल पुष्प सूर्यप्रकाश में ही खिलता है, विकसित होता है, प्रफुल्लित होता है, उसीप्रकार उदर स्थित कमलनाड भी अर्थात् आहारथैली भी सूर्यप्रकाश में ही पूर्णत: खुली और सक्रिय रहती है तथा सूर्यास्त होते ही कमल के फूल की भाँति ही उदर स्थित कमलनाड (आहारथैली) भी संकुचित हो जाती है, निष्क्रिय हो जाती है।

दोनों में यह समानता देखकर ही संभवत: वैद्यक शास्त्रों में आहार थैली को कमलनाड नाम दिया गया होगा। इसप्रकार आयुर्वेद व चिकित्साविज्ञान के अनुसार रात्रि में किया गया भोजन ढंग से पचता नहीं है, जिससे धीरे-धीरे अनेक उदरविकार भी हो जाते हैं।

पशु दो प्रकार के होते हैं। एक दिन भोजी, दूसरे रात्रिभोजी। उनमें एक

विशेषता यह होती है कि जो रात में खाते हैं, वे दिन में नहीं खाते और जो दिन में खाते हैं, वे रात में नहीं खाते। वे अपने नैसर्गिक (प्राकृतिक) नियमों का लोप नहीं करते। पर यह समझ में नहीं आता कि इस मनुष्य को किस श्रेणी में रखा जाय, जो दिन में भी खाता है और रात्रि में भी? कोई कह सकता है कि पालतू जानवर भी तो दिन-रात कभी भी खाते हैं? हाँ खाते हैं, पर उनकी बात जुदी है, वे मानव के सत्संग में जो आ गये हैं, बेचारे वे पराधीन हो गये हैं। जब यह स्वार्थी मानव उन्हें दिन में भरपेट खाने को देगा ही नहीं तो उन्हें मजबूर होकर रात में खाना ही पड़ेगा।

आयुर्वेद व शरीरविज्ञान के नियमानुसार मानव को सोने के 4-5 घंटे पहले भोजन कर ही लेना चाहिए, तभी वह स्वस्थ रह सकता है। खाकर तुरन्त सो जाने से पाचन नहीं होता, जिससे अनेक बीमारियाँ हो जाती हैं।

अहिंसाधर्म का पालन करने की दृष्टि से भी जैन व जैनतर सभी शास्त्रों में रात्रिभोजन के त्याग पर बहुत जोर दिया है –

अहिंसाव्रत-रक्षार्थ मूलव्रत-विशुद्धये।
निशायां वर्जयेत् भुक्तिं इहामुत्र च दुःखदाम्॥

अहिंसाव्रत की रक्षा और आठ मूलगुणों की निर्मलता के लिए तथा इस लोक सम्बन्धी रोगों से बचने के लिए एवं परलोक के दुःखों से बचने के लिए रात्रिभोजन का त्याग कर देना चाहिए।[1]

रात्रिभोजन में हिंसा की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए कहा गया है कि रात्रि में भोजन करनेवालों को हिंसा अनिवार्य होती है। रात्रि भोजन त्यागे बिना वह किसी भी हालत में उस हिंसा से बच नहीं सकता। इसलिए अहिंसाप्रेमियों को या हिंसा से विरक्त पुरुषों को रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिए।[2]

1. वसुनन्दी उपासकाध्ययन, श्लोक -334
2. रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारता भवति हिंसा।
हिंसा विरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥129॥ - पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

सूर्य के प्रकाश बिना रात में भोजन करनेवाला मनुष्य जलते हुए दीपक में भी भोजन में मिले हुए सूक्ष्म जीवों की हिंसा कैसे टाल सकता है? रात्रिभोजी मनुष्य द्रव्य व भाव दोनों प्रकार की हिंसाओं से बच ही नहीं सकता; अत: अहिंसा का पालन करनेवालों को रात्रिभोजन त्यागना अनिवार्य है।[1]

जिसमें राक्षस, भूत और पिशाचों का संचार होता है, जिसमें सूक्ष्म जन्तुओं का समूह दिखाई नहीं देता, जिसमें स्पष्ट न दिखने से त्यागी हुई वस्तु भी भोजन में आ जाती है, जिसमें साधुओं का संगम नहीं होता, जिसमें देव व गुरु की पूजा नहीं की जाती, जिसमें खाया गया भोजन संयम और स्वास्थ्य का विनाशक होता है, जिसमें जीवित जीवों के भोजन में गिर जाने की संभावना रहती है, जिसमें सभी शुभकार्यों को करने का निषेध होता है, जिसमें संयमीपुरुष गमनागमन क्रिया भी नहीं करते–ऐसी महादोषों से भरी रात्रि में धर्मात्मापुरुष भोजन नहीं करते।[2]

जो जिह्वा के लोलुपी पुरुष रात्रि में भोजन करते हैं, वे लोग न तो भूत, राक्षस, पिशाच और शाकिनी-डाकिनियों के दुष्प्रभाव से बच सकते हैं और न नानाप्रकार की व्याधियों-बीमारियों से ही बच सकते हैं, क्योंकि रात्रि में भूत-पिशाचों का भी संचार होता है और जीव-जन्तुओं का भी, जिनके कारण बीमारियाँ पनपती हैं।

सूर्यप्रकाश में भोजन का भली-भाँति पाचन होता है। रात्रि में यह लाभ न मिलने से उदरविकारजनित रोग भी हो जाते हैं।

रात्रिभोजनत्याग की महिमा प्रदर्शित करते हुए कहा है कि - जो पुरुष रात्रिभोजन का त्याग करता है, वह एक वर्ष में छह मास के उपवास करता

---

1. अर्कालाकेन बिना भुंजान परिहरेत कथं हिंसा।
   अपिबोधितर्प्रदीपे भोज्यजुसां सूक्ष्म जीवानाम्॥33॥
   -पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
2. अमितगति श्रावकाचार पंचम परिच्छेद श्लोक - 4042

है; क्योंकि वह रात्रि में आरंभ का त्याग करता है।[1]

"रात्रिभोजन करनेवाले के व्रत तप नहीं होते, अत: रात्रि में भोजन करना त्यागने योग्य ही है। जो रात्रिभोजन करते हैं, उनके गत्लाचार तो रहता ही नहीं है और जीवों की हिंसा भी होती ही है। रात्रि में कीड़ी, मच्छर, मक्खी, मकड़ी आदि अनेक जीव भोजन में आकर गिर जाते हैं और यदि दीपक जलाकर भोजन करता है तो दीपक के संयोग से दूर-दूर के जीव दीपक के निकट शीघ्र आकर भोजन में आ पड़ते हैं।[2]

जो जिनधर्मी होकर रात्रि में भोजन करते हैं, उसके द्वारा आगामी परम्परा तो बिगड़ती ही है, संतान पर बुरा प्रभाव भी पड़ता है। तथा रात्रि में चूल्हा-चक्की के आरंभ से चौके की सफाई, बर्तनों के धरने-उठाने, धोने - माँजने आदि घोर हिंसक कर्म करनेवाले को जैनकुल में जन्म लेने का कोई लाभ नहीं मिलता।

प्रश्न :- यदि ऐसा है तो हम घर में रात्रि में भोजन बनाने का आरंभ नहीं करेंगे, दिन में बने हुए पकवान, लाडू, पेड़ा, पूड़ी पुआ, बरफी, दूध, मलाई आदि खा लेंगे, तब तो आरंभजनित हिंसा नहीं होगी ? फिर तो कोई दोष नहीं है ?

उत्तर :- अरे भाई, रात्रिभोजन में धर्म की हानि, स्वास्थ्य की हानि एवं लोकनिंदा तथा सर्वज्ञ की आज्ञा का उल्लघंन जैसे अनेक दोष होने पर भी यदि तू रात्रि में ही खाने का दुराग्रह रखता है, सो ऐसा काम तीव्रराग के बिना संभव नहीं है और तीव्रराग स्वयं अपने आप में आत्मघातक होने से भावहिंसा है। जैसे अन्न का ग्रास व मांस का ग्रास समान नहीं है, उसीतरह दिन का

---

1. जो निशिं भुक्तिं वज्जदि सो उववासं करेदि छम्मासम्।
संवच्छरस्स मज्झे आरंभं चयदि रयणीए॥82॥
- स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा

2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार चतुर्थ अधिकार पृष्ठ - 150

भोजन व रात्रि का भोजन समान नहीं है। रात में भोजन में अनुराग विशेष है, अन्यथा बिना राग के इतना बड़ा खतरा कोई क्यों मोल लेता ?

जब दिन में भोजन करना ही स्वास्थ एवं सुखी जीवन जीने के लिए पर्याप्त है, तो रात्रि में भोजन का हठाग्रह क्यों ? जो रात में भोजन करता है, उसके व्रत, तप, संयम कुछ भी संभव नहीं है। उसकी संवर रहित प्रवृत्ति है।

रात्रिभोजन का सबसे बड़ा एक दोष यह भी है कि इस काम में ही महिलाओं को रात के बारह-बारह बज तक उलझा रहना पड़ता है। इससे खानेवालों के साथ बनानेवाली माता-बहिनों का धर्मध्यान, शास्त्रों का पठन-पाठन, तत्त्वार्थचर्चा, सामायिक, जाप्य आदि सब कुछ छूट जाता है। इसकारण जैनधर्म के धारक जैन रात्रि में भोजन नहीं करते। ऐसी ही सनातन रीति अब तक चली आई है।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लोक में करोड़ों लोगों में यह बात प्रसिद्ध है कि जैनी रात में नहीं खाते। इसकारण जैनधर्म की प्रभावना भी बहुत है, फिर भी जो लोग रात में खाते हैं, वे जिनधर्म की उज्ज्वल कीर्ति को मलिन करते हैं - ऐसा अनर्थ भी राग की तीव्रता के बिना संभव नहीं है। अत: जो रात में खाता है, वह नि:सन्देह तीव्ररागी होने से महापापी है।[1]

जैनेतर शास्त्रों में भी रात्रिभोजन के त्याग के उल्लेख मिलते हैं, इससे स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति में भी रात्रिभोजन वर्ज्य है।

विश्वविख्यात ग्रन्थ महाभारत में कहा है कि -

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा।
संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरादिते ॥280॥

रात्रि में श्राद्ध नहीं करना चाहिए, क्योंकि रात्रि को राक्षसी माना गया है। न केवल रात्रि, बल्कि सूर्यास्त व सूर्योदय के समय दोनों संध्याओं के संधिकाल में भी श्राद्ध व भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह समय भी

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका : पं. सदासुखदासजी चतुर्थ अधिकार पृष्ठ 151

रात्रि के निकट होने से रात्रि के दोष से दूषित होने लगता है।'

और भी देखिए युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि –

नोदकमपि पातव्यं रात्रावपि युधिष्ठिरः।
तपस्विनां विशेषेण गृहिणां च विवेकिनाम्॥

हे युधिष्ठिर! रात्रि में अन्नाहार की तो बात ही क्या है, पानी भी नहीं पीना चाहिए।

आगे कहा है कि –

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः॥

जो मनुष्य मद्य पीते हैं, मांस खाते हैं, रात्रि को भोजन करते हैं एवं जमीकन्द खाते हैं, उनके साथ जप-तप तीर्थयात्रादि करना व्यर्थ है।

इसप्रकार सभी जैन व जैनेतर धर्मशास्त्रों में मद्य-मांस-मधु व कन्दमूल आदि को तामसिक आहार माना है तथा हिंसामूलक होने से सर्वथा त्याज्य कहा है। फिर भी न जाने क्यों जैनेतर लोगों में सायंकालीन भोजन को रात में खाने की ही परम्परा है ? लगता है जैनों से अपनी अलग पहचान बनाने के लिए ऐसा हुआ हो। पर अफसोस की बात यह है कि जैन भी अपनी पहचान खोते जा रहे हैं।

यहाँ यदि कोई कहे कि आपको यहाँ मूलगुणों के वर्णन में रात्रिभोजन के त्याग का उपदेश नहीं देना चाहिए, क्योंकि रात्रि भोजन का त्याग तो छठवीं प्रतिमा में होता है, फिर यहाँ क्यों किया?

इसका समाधान यह है कि भाई! छठवीं प्रतिमा में तो रात्रिभोजन त्याग पूर्णरूप से होता है और यहाँ मूलगुणों के प्रकरण में रात्रिभोजन का त्याग अतिचार सहित ही होता है, इसमें अतिचारों का त्याग शामिल नहीं है। और छठवीं प्रतिमा में जो रात्रिभोजन का सूक्ष्मरूप से सर्वथा त्याग है वह अतिचार रहित है, मूलगुणों में तो रात्रि में केवल अन्नादिक स्थूल भोजनों

का त्याग है, इसमें सुपारी, लोंग, इलायची, जल तथा औषधि आदि का त्याग नहीं है। जबकि छठवीं प्रतिमा में पानी, लोंग, सुपारी, इलायची, औषधि आदि समस्त पदार्थों का त्याग बतलाया है।

इसलिए छठवीं प्रतिमाधारी प्राणान्तक प्रसंग आने पर भी जल तक ग्रहण नहीं करता, औषधि आदि लेने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रश्न :- दर्शनप्रतिमाधारी के मूलगुणों के सिवाय अन्य कोई व्रत नहीं होता। वह सम्पूर्णत: अव्रती है, अत: वह तो रात्रि में अन्नादिक भोजन कर सकता है, अव्रती होने से वह अभी रात्रिभोजन करने में असमर्थ है। वह तो अभी केवल पाक्षिक श्रावक है, वह तो व्रतादि धारण करने का केवल पक्ष रखता है। इसप्रकार भी उसे रात्रि में अन्नादि का आहार करने का प्रतिबंध नहीं होना चाहिए, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 29 में भी यही कहा है -

"णो इन्दियेषु विरदे णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥

अविरत सम्यग्दृष्टि न तो त्रस हिंसा से विरक्त है और न स्थावर हिंसा से। अत: वह रात्रिभोजन भी क्यों छोड़े ?

उत्तर :- रात्रिभोजन का त्याग न करने से उसका पाक्षिकपना अथवा व्रतों के धारण करने के पक्ष को स्वीकार करना भी सिद्ध नहीं होता।

दूसरे, रात्रिभोजन का त्याग करना पाक्षिक श्रावक का कुलाचार है। इसके त्याग बिना तो वह पाक्षिक श्रावक भी नहीं हो सकता। जैन होने के नाते उसे अन्नाहार का त्याग करना तो अनिवार्य ही है। इसके बिना जैनपना कैसा ?

यह बात जगत जाहिर है कि रात्रि में दीपक के सहारे पतंगा आदि अनेक त्रस जीवों का समुदाय आ जाता है, जो जरा-सा हवा का झकोरा लगने मात्र से अपने सामने देखते-देखते मर जाता है तथा उनका कलेवर उड़-उड़ कर भोजन में मिल जाता है। कुछ जीव तो जीवित ही भोजन में

पड़कर मर जाते हैं।

ऐसी हालत में रात्रिभोजन का त्याग न करनेवाला मांस के दोष से कैसे बच सकेगा ? इसलिए संयम की रुचिवालों को रात्रिभोजन का त्याग अवश्य करना चाहिए।

यदि अपनी शक्ति हो तो चारों प्रकार के आहार का त्याग करें, अन्यथा अन्नाहार का त्याग तो अवश्य ही कर देना चाहिए।[1]

रात्रिभोजन त्याग की महिमा बताते हुए आचार्य वीरनन्दी ने तो इसे छठवाँ अणुव्रत तक कह दिया है। वे कहते हैं - श्रावक को अहिंसा व्रत का पालन करने के लिए रात्रिभोजनत्याग नाम का छठा अणुव्रत भी अवश्य पालना चाहिए। रात्रिभोजनत्याग के बिना अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि रात्रि भोजन में हिंसा अवश्यंभावी है।

रात्रिभोजनत्याग नामक छठवीं प्रतिमा के सिवाय रात्रिभोजन त्याग की चर्चा किसी भी प्रकरण में आई हो, उसे केवल सामान्य श्रावक के मूलगुणों में ही मानना चाहिए। रात्रिभोजनत्याग की चर्चा छठवीं प्रतिमा में भी आती है, वहाँ सम्पूर्ण अतिचारों एवं कृत कारित अनुमोदना के त्यागपूर्वक रात्रिभोजनत्याग की बात है। सामान्य रात्रिभोजन का त्याग तो अष्ट मूलगुणों में ही हो जाता है। इस प्रारंभिक भूमिका में अन्नाहार एवं मिष्ठान्न के खाने व बनाने के त्याग की मुख्यता है। इस भूमिका में पानी, औषधि, लोंग, इलायची आदि के त्याग को शामिल नहीं किया है।

प्रश्न :- शीतकाल में जबकि दिन बहुत छोटे होने लगते हैं, उन दिनों सायंकालीन भोजन सूर्यास्त के पूर्व करने में प्राय: सभी कामकाजी लोगों को कठिनाई का अनुभव होता है - ऐसी स्थिति में सामान्य श्रावक क्या करे ?

उत्तर :- जो सूर्यास्त के पूर्व भोजन के लिए घर नहीं लौट सकते उनके लिए श्रेष्ठ उपाय तो यह है कि वे लोग अपना शाम का भोजन साथ ले जावें और दिन रहते वहीं भोजन कर लें। □

1. लाटी संहिता प्रथमसर्ग श्लोक 41, 42, 43

अनछना जल त्याग

आज विज्ञान के युग में वस्त्र से छने जल की उपयोगिता सर्वविदित है, क्योंकि आज सूक्ष्मदर्शी यंत्रों से सिद्ध हो चुका है कि बिना छने पानी में चलते-फिरते असंख्य सूक्ष्म त्रस जीव होते हैं। उन जीवों के उदर में जाने पर वे तो मरते ही हैं, अनेक उदर रोगों को भी उत्पन्न करते हैं। इसलिए जीव रक्षण और स्वास्थ्य संरक्षण की दृष्टि से वस्त्रगलित जल पीना अत्यावश्यक है।

प्राचीन धर्मग्रन्थों में भी इसके उल्लेख हैं। विक्रम की द्वितीय सदी के आचार्य शिवकोटि ने अपने ग्रन्थ 'रत्नमाला' में लिखा है कि -

वस्त्रपूतं जलं पेयमन्यथा पापकारणम्।
स्नानेऽपि शोधनं वारः करणीयं दयापरैः॥

मनुष्यों को सदा वस्त्र से छना हुआ जल ही पीना चाहिए। अगलित जल पीना पापबन्ध का कारण है। दयालुजनों को स्नान आदि के काम में भी पानी को छानकर ही उपयोग करना चाहिए।

वस्त्रगलित जल में भी एक अन्तमुहूर्त के बाद पुनः सम्मूर्छन त्रसजीव पैदा हो जाते हैं। एतदर्थ ब्रह्मनेमीदत्त छने और प्रासुक (गर्म) जल की अवधि का ज्ञान कराते हुए लिखते हैं कि -

गालितं तोयमप्युच्चै सन्मूर्च्छितर्मुहूर्ततः।
प्रासुकं यामयुग्माच्च सदुष्णं प्रहराष्टकान्॥

अच्छे प्रकार से छाने गये जल में भी एक मुहूर्त क पश्चात् सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। प्रासुक किया हुआ जल दो प्रहर के पश्चात् तथा खूब उष्ण किया हुआ (उबला हुआ) जल आठ प्रहर के बाद सम्मूर्छित हो जाता है।

पूर्वोक्त कथन के समर्थन में ही छने पानी की समय सीमा के विषय में

निम्नलिखित कथन भी द्रष्टव्य हैं -

मुहूर्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम् ।
उष्णोदकमहोरात्रं तत: सम्मूर्छितं भवेत् ॥

ध्यान रहे, तत्काल का छना हुआ पानी एक मुहूर्त, प्रासुक किया हुआ दो प्रहर तथा उबाला हुआ पानी चौबीस घंटे बाद सम्मूर्छित हो जाता है।[1]

दसवीं सदी के आचार्य देवसेन सावयधम्म दोहा में लिखते हैं कि -

जेण अगालिउ जलुपियइ जाणिज्जइ न पवाणु ।
जो तं पियइ अगालिउ सो धीवरह पहाणु ॥27॥

जो अगालित जल पीता है, वह जिन-आज्ञा को नहीं जानता। तथा जो अगालित जल पीता है, वह धीवरों में प्रधान है।

पण्डित आशाधरजी ने वस्त्र में छने पानी की मर्यादा दो मुहूर्त कही है।[2] तथा पण्डित मेधावी ने इसी जल को अर्द्धप्रहर के पश्चात् पीने के अयोग्य माना है।[3]

विक्रम की पंद्रहवीं शती के आचार्य सकलकीर्ति ने प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में कहा है कि -

सद्यो गालितं नीरेण स्नानं वस्त्रादि धोवनम् ।
प्रक्षालनं च यत्किञ्चित् सर्वं कुरु भो बुध ॥105॥
स्नानादिकं प्रकुर्वन्ति चागालितजलेन ये ।
अहिंसाख्यं व्रतं तेषां जीवघातान्विनस्यति ॥106॥

हे बुद्धिमान श्रावक! स्नान करने में, वस्त्र धोने तथा किसी भी वस्तु का प्रक्षालन करने में तत्काल का छाना हुआ पानी ही काम में लेना चाहिए; क्योंकि जो बिना छने पानी से स्नान आदि भी करते हैं, उनसे जीवों की हिंसा होती है और हिंसा होने से अहिंसा धर्म का नाश होता है।

1. धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार : श्लोक 90
2. सागार धर्मामृत अध्याय 3, श्लोक 16
3. धर्मसंग्रह श्रावकाचार

वस्त्रगालित जल पीना न केवल जैनों का कर्तव्य है; बल्कि जैनेतर धर्म ग्रन्थों में भी पानी छानकर ही पीने का विधान है। मनुस्मृतिकार ने लिखा है–

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, पटपूतं जलं पिबेत्।

जीवरक्षा हेतु देखकर कदम रखो और कपड़े से छान कर पानी पिओ।

जैनेतरों के ही दूसरे ग्रन्थ लिंगपुराण में लिखा है –

संवत्सरेण यत्पापं कुरुते मत्स्यवेधकः।
एकाहेन तदाप्नोति अपूतजलसंकुली॥

मछली मारनेवाला धीवर मछलियाँ मार-मार कर एक वर्ष में जितना पाप करता है, बिना छना पानी काम में लेनेवाला व्यक्ति एक दिन में उतने पाप का भागी होता है। क्योंकि –

एगम्मि उदगबिंदुमि जे जीवा जिणवरेहिं पण्णता।
ते जइ सरिसव मित जम्बूदीवे ण मायंति॥

एक जल की बूँद में इतने सूक्ष्म त्रसजीव होते हैं कि यदि वे आकार में सरसों के दाने बराबर हो जावें तो जम्बूद्वीप में नहीं समायेंगे – ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अतः अहिंसक आचरण के लिए तथा मांस के अतिचार (दोष) से बचने के लिए पानी सदैव छानकर ही काम में लेना चाहिए।

कहा भी है –

वस्त्रेणाति सुपीनेन गालितं तत्पिबेज्जलम्।
अहिंसाव्रतरक्षायै मांस दोषाय नोदने॥[1]

अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए एवं मांस के दोष से बचने के लिए अत्यन्त मोटे दोहरे छन्ने से छना हुआ पानी ही पीना चाहिए।

पर ध्यान रहे, छन्ने का कपड़ा सूती हो, स्वच्छ, मोटा व दुहरा हो, टेरीकाट न हो, पतला, पुराना एवं मैला न हो। इकहरा व खिरखिरा भी नहीं

1. धर्मसंग्रह श्रावकाचार अध्याय 6, श्लोक 35

होना चाहिए, क्योंकि पानी में दो तरह के रोगाणु होते हैं -

1. बैक्टेरिया 2. वायरस

इकहरे छन्ने से बैक्टेरिया तो छन जाते हैं पर वायरस नहीं छनते और दुहरे मोटे सूती कपड़े के छन्ने से वायरस भी छन जाते है; अत: स्वस्थ रहने की दृष्टि से भी पानी सदा दुहरे व मोटे छन्ने से ही छानना चाहिए।

छने पानी पीने की प्रतिज्ञा लेनेवाला हिंसा के महापाप से तो बचता ही है, साथ में सहज ही अनेक बीमारियों से एवं धोखा-धड़ी के खतरों से भी बच जाता है।

उदाहरणार्थ:- उसकी उदर विकार उत्पन्न करनेवाली बाजारू मिठाइयाँ खाना भी छूट जाती हैं, क्योंकि वे सब अनछने पानी से ही बनती हैं।

संक्रामक रोग फैलानेवाली होटलों की चाय-कॉफी भी छूट जाती है, क्योंकि ये भी अनछने पानी से बनते हैं।

उसे कोई धोखा-धड़ी से कोई बाजारू अखाद्य या अपेय वस्तुएँ नहीं खिला-पिला सकता, क्योंकि अब वह अनछने पानी का त्यागी होने से बाजारू वस्तुएँ खाता ही नहीं है।

इस तरह छने पानी से दया धर्म के साथ स्वास्थ्य का लाभ भी मिलता है और जीवन भी सुरक्षित होता है। इन सबके साथ उसकी जो सामाजिक प्रतिष्ठा बनती है, वह भी कोई कम नहीं है।

इस तरह छने पानी पीने से लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नहीं। अत: सभी को छना पानी ही पीना चाहिए। □

सप्त व्यसन त्याग

वैसे तो आदत को व्यसन कहते हैं, अत: किसी भी भली-बुरी आदत को व्यसन कहा जा सकता है, कहा भी जाता है; पर आगम में उल्लिखित सप्त व्यसनों के संदर्भ में यह बात नहीं है। आगम में तो सप्त व्यसनों को परिभाषित करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'व्यस्यति प्रत्यावर्तयति पुरुषान् श्रेयस: इति व्यसनम्' जो मनुष्य को आत्मकल्याण से विमुख कर देवे, वह व्यसन है; तथा जिस कुशील आचरण, अभक्ष्य-भक्षण और हिंसकरूप पाप-प्रवृत्ति को बारम्बार किए बिना चैन न पड़े, उन बुरी आदतों को व्यसन कहते हैं।

मूलाचार ग्रन्थ में व्यसन की व्याख्या करते हुए लिखा है कि - 'जो महादु:ख को उत्पन्न करे, अति विकलता उपजावे, उन आदतों को व्यसन कहते हैं।'

स्याद्वादमंजरी में कहा है कि 'जिसके होने पर उचित-अनुचित के विचार से रहित प्रवृत्ति हो, वह व्यसन कहलाता है।'

वसुनन्दि श्रावकाचार में इन सातों व्यसनों को दुर्गति गमन के कारणभूत पाप कहा है।

लाटी संहिताकार भी कहते हैं - कि 'बुद्धिमान जनों को इन महापापरूप सातों व्यसनों का त्याग अवश्य करना चाहिए।[1]'

जुआ खेलने से महाराज युधिष्ठिर, मांसभक्षण से बक नामक राजा, मद्यपान करने से यदुवंशीय राजकुमार, वेश्यासंगम से चारुदत्त, शिकार खेलने से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, चोरी करने से शिवभूति और परस्त्री की अभिलाषा से रावण जैसे पुरुष भी विनष्ट हो गये। जब एक-एक व्यसन के कारण ही इन पुराण पुरुषों ने असह्य कष्ट सहे और दुर्गति प्राप्त की तो जो सातों व्यसनों में लिप्त हों, उनकी दुदर्शा का तो कहना ही क्या है ? अत: सातों व्यसन त्याज्य हैं।

---

1. महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेत् बुध:। श्लोक 121

व्यसनों में उलझना तो सहज है, पर एकबार उलझने के बाद सुलझना महादुर्लभ हो जाता है, इनको एकबार पकड़ने पर ये पकड़नेवाले को ऐसा जकड़ते हैं कि जीते जी छूटना संभव नहीं रहता। बस यही इनका व्यसनपना है।

प्रश्न :- चोरी और परस्त्री गमन को जब पापों में कह दिया तो उन्हें पुन: व्यसनों में क्यों रखा ? दो में से एक ही जगह सम्मिलित करना चाहिए न ? पाप व व्यसन में ऐसा अन्तर ही क्या है ?

उत्तर :- इन पापों को करने की जब ऐसी आदत पड़ जावे कि राजदण्ड, लोकनिन्दा व सामाजिक बहिष्कार की स्थिति आ जाने पर भी न छोड़े जा सकें, तब वे पाप व्यसन बन जाते हैं और जो पापकार्य अज्ञान दशा में हो जाने पर भी माता-पिता गुरुजन के उपदेश से या इहभव-परभव के भय से छूट जाते हैं वे पाप की सीमा में ही रहते हैं।

यद्यपि इन व्यसनों का नियमपूर्वक त्याग तो सम्यग्दर्शन होने पर पाक्षिक अवस्था में ही होता है, परन्तु ये इतने हानिकारक हैं, ग्लानिरूप हैं एवं दु:खद व लोकनिंद्य हैं कि सामान्य श्रावक भी इनका सेवन नहीं करते। अत: किसी को भी इनके चक्कर में नहीं आना चाहिए।

इनमें आसक्त पुरुषों को सम्यग्दर्शन होना तो दूर रहा, किन्तु धर्मरुचि और धर्मात्माओं का समागम होना भी दुस्साध्य हो जाता है। ये सातों व्यसन वर्तमान जीवन को तो नष्ट-भ्रष्ट करते ही हैं, अत्यन्त संक्लेश परिणामों के कारण होने से मरणोपरान्त नरक में जाने के कारण भी बनते हैं। अत: इनसे सदा बचे रहना चाहिए।

आजकल सभ्य कहे जानेवाले पढ़े-लिखे ऑफीसर और श्रीमंत मनोरंजन के लिए क्लबों में जाने में तथा वहाँ के नवयुवक मांस-मदिरा के सेवन में और रमी आदि के रूप में जुआ खेलने में अपनी शान समझते हैं। इन व्यसनों की भयंकर बीमारी का यहीं से श्रीगणेश होता है-शुरुआत होती है, अत: इस वातावरण से भी बचे रहने में ही हमारा हित है। □

द्विदल त्याग

चना, उड़द, मूँग, मसूर अरहर आदि सभी प्रकार के दो दलवाले अनाजों को दही, छाँछ (मट्ठा) में मिलाकर बनाये गये कड़ी, रायता, दही बड़ा आदि को खाना द्विदल अभक्ष्य है।

यद्यपि उपर्युक्त दो दलवाले सभी अनाज भक्ष्य हैं, खाने योग्य हैं और मर्यादित दही व छाछ भी भक्ष्य है, तथापि इनको मिलाकर खाने से ये अभक्ष्य हो जाते हैं, क्योंकि दालों और दही छाँछ के मिश्रण से बने पदार्थों का लार से संयोग होने पर तत्काल त्रसजीव पैदा हो जाते हैं। अत: इनके खाने में मांस का आंशिक दोष (अतिचार) है।

यह बात युक्ति, आगम और अुनभव से सिद्ध होती है; परन्तु उपर्युक्त खाद्य पदार्थों के बनाने की विधि को लेकर दो पक्ष प्रचलित हैं। आगम में भी दोनों तरह के उल्लेख मिल जाते हैं, अत:यह अपने स्व-विवेक पर निर्भर करता है कि हम क्या करें ?

पहला पक्ष पण्डित आशाधरजी के सागारधर्मामृत में उद्धृत योगशास्त्र के निम्नांकित श्लोक को आधार बनाकर छाँछ व दही को उष्ण करके दो दलवाले अनाज मिलाकर बनाई गई कढ़ी आदि खाने में दोष नहीं मानते। यह श्लोक मूलत: इसप्रकार है -

'आमगोरससम्पृक्ता: द्विदलादिषु जन्तव: ।
दृष्टा: केवलिभि: सूक्ष्मस्तस्मात्तानि विवर्जयेत् ॥

वे आम का अर्थ कच्चे गोरस से सम्पृक्त (मिले हुए) अन्न को खाना ही द्विदल अभक्ष्य मानते हैं। जो भी हो, पर इससे इतना तो सिद्ध हो ही गया कि कच्चे दही छाँछ में दो दलवाले अन्न के मिश्रण से त्रसजीवों की उत्पत्ति होती है।

अब प्रश्न केवल कच्चे या उष्ण किए हुए दही छाँछ का रहा, सो उसके लिए विवरणाचार का निम्नांकित आगम प्रमाण प्रस्तुत है। जो इस अभक्ष्य

भक्षण के दोष से बचने के लिए पर्याप्त है। मूल श्लोक इसप्रकार है -

आमेन पक्केन च गोरसेन मुग्दादियुक्तं द्विदलं युक्त तु कायम्।
जिहादिती स्यात् त्रसजीवराशि: सम्मूर्छिमानश्यति नामचित्रम् ॥6॥

अर्थात् कच्चे व पके हुए दोनों प्रकार के गोरस में दोदल वाले अनाज के मिश्रण में मुँह की लार मिलते ही त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जाती है। अत: इनका खाना सर्वथा वर्ज्य है।

शंका - अब विचारणीय बात केवल यह है कि जब दोनों तरह के प्रमाण मिलते हैं तो दही व छाछ को गर्म करके खाने में क्या हानि है ?

समाधान - सबसे बड़ी हानि यह है कि प्रश्न में द्विदल खाने के प्रति अनुराग झलकता है, अन्यथा मैं पूछता हूँ कि कच्चा व पके दोनों ही प्रकार के दही छाछ से बने भोजन के न खाने से क्या हानि है ? क्या उसके बिना जीवन संभव नहीं है ? जिसमें जरा भी शंका हो तो उसमें हमारा पक्ष निर्विवाद मुद्दे की ओर ढलना चाहिए न कि विवादस्थ मुद्दे की ओर। अत: हमारा तो दृढ़ मत है कि त्रसघात से बचने के लिए कच्चे-पक्के दोनों प्रकार के दहीं-छाछ से बने द्विदल पदार्थ त्यागने योग्य हैं।

प्रश्न :- द्विदल अभक्ष्य के संदर्भ में केवल दूध, दही व छाँछ को ही गोरस क्यों माना, घी भी तो गोरस है, घी को क्यों छोड़ दिया ?

उत्तर :- यहाँ इस संदर्भ में 'गोरस' योग रूढ़ शब्द है, इसलिए गोरस शब्द का अर्थ दूध, दही व छाछ ही है। 'गोरसनेक्षीरेण दध्ना तक्रेण च' - ऐसा सागार धर्मामृत की टीका में स्पष्ट उल्लेख है। अत: घी मिश्रित द्विदल अन्न खाने में दोष नहीं है। □

जैनतर ग्रन्थों में भी....

'गोरसं मांसमध्ये तु मुद्गादि तथैव च।
भक्ष्यमाणं कृतं नूनं मांसतुल्यं युधिष्ठिर ॥

हे युधिष्ठिर! गोरस के साथ जिन पदार्थों की दो दालें होती हैं - उनके सेवन करने से मांस भक्षण के समान पाप लगता है।'

अभक्ष्य त्याग

जिन पदार्थों के खाने से त्रस जीवों का घात होता हो या बहुत स्थावर जीवों का घात होता हो तथा जो पदार्थ भले पुरुषों के सेवन करने योग्य न हों या नशा कारक अथवा अस्वास्थ्यकर हों, वे सब अभक्ष्य हैं। इन अभक्ष्यों को पाँच भागों में बाँटा जाता है -

1. त्रसघात, 2. बहुघात, 3.अनुपसेव्य, 4. नशाकारक, 5.अनिष्ट

(1) त्रसघात :- जिन पदार्थों के खाने से त्रसजीवों का घात होता हो, उन्हें त्रसघात कहते हैं। पंच उदुम्बर फलों में अनेक त्रस-जीव पाये जाते हैं, अत: ये त्रसघात अभक्ष्य हैं, खाने योग्य नहीं हैं।

(2) बहुघात :- जिन पदार्थों के खाने से त्रसजीवों का घात होता है, उन्हें बहुघात अभक्ष्य कहते हैं। समस्त कन्दमूलों में अनंत स्थावर जीव रहते हैं। इनके खाने से अनंत जीवों का घात होता है, अत: ये खाने योग्य नहीं हैं।

(3) अनुपसेव्य :- जिनका सेवन उत्तम पुरुष बुरा समझे व लोकनिंद्य पदार्थ अनुपसेव्य हैं। जैसे - लार, मल, मूत्र आदि पदार्थ। लोकनिंद्य होने से इनका सेवन तीव्र राग के बिना संभव नहीं है, अत: ये भी अभक्ष्य हैं।

(4) नशाकारक :- जो वस्तुएँ नशा उत्पन्न करती हैं, मादक होती हैं; उन्हें नशाकारक अभक्ष्य कहते हैं। जैसे - शराब, अफीम, भंग, गांजा, तम्बाखू आदि।

(5) अनिष्ट :- जो वस्तुएँ स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हों, वे भी अभक्ष्य हैं, क्योंकि हानिकारक वस्तुओं का उपभोग भी तीव्रराग के बिना संभव नहीं है। अत: वे पदार्थ भी अभक्ष्य हैं, खाने योग्य नहीं हैं।

जिनागम में भी 22 अभक्ष्य पदार्थों को विशेष नामोल्लेखपूर्वक त्यागने की प्रेरणा दी गई है; क्योंकि उसके सेवन से अनंत त्रसजीवों की हिंसा है। वे

इसप्रकार हैं -

ओला घोरबड़ा निशिभोजन, बहुबीजा बेंगन संधान।
बड़ पीपर ऊमर कठूमर, पाकर फल जो होय अजान॥
कंदमूल माटी विष आमिष, मधु माखन अरु मदिरापान।
फल अतितुच्छ तुषार चलितरस, यो जिनमत बाईस बखान॥

उपर्युक्त 22 अभक्ष्यों में ओला (बर्फ-अगलित जल), घोरबड़ा (दही बड़ा - द्विदल), निशिभोजन, बड़, पीपर, ऊमर, पाकर और कठूमर (पांचों उदुम्बर फल), आमिष (मांस), मधु (शहद), मदिरापान - इन 11 का कथन तो पीछे मूलगुणों में कर ही आये हैं, ये तो अभक्ष्य हैं ही। इनके अतिरिक्त बहुबीजा, बेंगन, संधान (आचार, मुरब्बा), मक्खन, अनजान फल (जिसे न जानते हों), कंद (आलू, अरबी, प्याज, लहसुन), मूल (गाजर, मूली), मिट्टी, विष, अमर्यादित मक्खन तुच्छफल (जिसका बढ़ना चालू है, ऐसे अपरिपक्व फल-सप्रतिष्ठित फल) तुषार, चलितरस (सड़े-गले पदार्थ, जिनका स्वाद बिगड़ने लगा हो) इनमें भी अनंत त्रसजीव होते हैं। अत: ये भी अभक्ष्य हैं त्याज्य हैं, खाने योग्य नहीं हैं। अहिंसा प्रेमियों को अपने परिणामविशुद्धि और पाप से बचने के लिए यथाशक्य इन सबका त्याग भी अवश्य करना चाहिए। □

देवदर्शन

'देव' शब्द बहुत व्यापक है। यह अनेक प्रकार के देवों के अर्थ में प्रयुक्त होता है; पर यहाँ देव का अर्थ जिनेन्द्रदेव है। इसीतरह 'दर्शन' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं; पर यहाँ 'दर्शन' अर्थ न केवल अवलोकन करना है बल्कि भक्ति-भाव सहित जिनेन्द्रदेव का नमन करना, वन्दन करना और उनके गुणस्मरणपूर्वक स्वयं को उन जैसा बनने की भावना भाना भी है। इतना किए बिना देवदर्शन का कोई अर्थ नहीं है।

जिनेन्द्रदेव किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, जिनेन्द्रदेव उन्हें कहते हैं जो वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी हों, जिन्होंने इन्द्रियों के विषयों को जीत लिया हो, मोह-रागद्वेष आदि 18 दोषों को अभाव करके पूर्ण वीतरागता व सर्वज्ञता प्रगट कर ली हो। जिनके अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख व अनंतवीर्य आदि आत्मीक गुण प्रगट हो गये हों।

भले ही वे बुद्ध-वीर-जिन-हरि-हर-ब्रह्मा, राम और केशव आदि किसी भी नाम से कहे जाते हों; पर उनका वीतरागी व सर्वज्ञ होना अनिवार्य है। इनके बिना कोई भी आत्मा परमात्मा नहीं कहला सकता। पूर्ण वीतरागता व सर्वज्ञता को प्राप्त आत्मा ही परमात्मा है। उन्हीं को अरहंत या जिनेन्द्र कहते हैं। उन्हें ही जिनागम में सच्चा देव माना गया है। भक्ति-भाव सहित उनके दर्शन-वन्दन करने को देवदर्शन कहते हैं। प्रत्येक सामान्य श्रावक को नित्यप्रति प्रतिज्ञापूर्वक देवदर्शन करना चाहिए।

प्रश्न :- जब वर्तमानकाल में यहाँ ऐसे अरहंतदेव उपलब्ध ही नहीं हैं तो उनके दर्शन करना कैसे संभव है ?

उत्तर :- जब साक्षात् अरहंतदेव के दर्शन उपलब्ध नहीं होते, तब उनके स्थान पर धातु या पाषाण की तदाकार प्रतिमा बनाकर उसमें जिनेन्द्रेव की प्रतिष्ठा कर ली जाती है। प्रतिष्ठा होने के पश्चात् वह प्रतिमा भी साक्षात्

जिनेन्द्रदेव के समान ही वंदनीय-पूजनीय होती है; क्योंकि उस प्रतिमा के दर्शन से भी जिनेन्द्रदेव के दर्शन के समान ही पूरा लाभ होता है।

आगम में भी जिन प्रतिमा को जिनेन्द्र के समान ही माना गया है। कहा भी है -

'जिन प्रतिमा जिन सारखी, कही जिनागम माँहिं।[1]

साक्षात् समवशरण (धर्मसभा) में विराजमान जिनेन्द्रदेव में एवं जिनमन्दिर में विराजमान उनकी प्रतिमा में दर्शन करने के धर्मलाभ की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि समवशरण में भी तो जिनदेव के शरीर के ही दर्शन होते हैं। उनका आत्मा तो वहाँ भी दिखाई नहीं देता और हमारा दर्शन करने का प्रयोजन तो उनकी प्रतिमा के दर्शन से भी उसीतरह पूरा हो जाता है, जिसतरह जीवन्त जिनेन्द्र के दर्शन से होता है। अत: हमारे लिए तो जिनबिम्ब ही देवदर्शन है।

प्रश्न :- जो वीतरागी होते हैं, वे न तो भक्तों का भला करते हैं और न दुष्टों को दण्ड ही देते हैं तो उनके दर्शन-पूजन से हमें क्या लाभ ? जब उनके दर्शन-पूजन करने पर भी वे हमारे किसी लौकिक-पारलौकिक प्रयोजन की पूर्ति नहीं करते या नहीं कर सकते तो फिर बिना प्रयोजन कोई उनके नित्य दर्शन-पूजन क्यों करे ?

उत्तर :- जिनेन्द्रदेव का दर्शन-पूजन उनको प्रसन्न करने के लिए नहीं किए जाते, वरन् अपने चित्त की प्रसन्नता के लिए किए जाते हैं। वे तो वीतराग होने से तुष्ट या रुष्ट नहीं होते; पर उनके गुणस्मरण करने से हमारा मन अवश्य ही प्रसन्न एवं पवित्र हो जाता है।

इस संदर्भ में निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न: पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्य: ॥

1. कविवर बनारसीदास : नाटक समयसार

यद्यपि जिनेन्द्र भगवान वीतराग हैं, अत: उनकी पूजा से भी उन्हें कोई प्रयोजन नहीं तथा वैर रहित हैं अत: निन्दा में भी कोई प्रयोजन नहीं। तथापि उनके पवित्र गुणों का स्मरण पापियों के पापरूप मल से मलिन मन को निर्मल कर देता है।

इस छन्द में तो अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि भले भगवान प्रसन्न होकर भक्तों को कुछ नहीं देते पर उनकी भक्ति से भक्त का मन निर्मल हो जाता है। मन का निर्मल हो जाना व पापभावों से बचे रहना ही जिनभक्ति का सच्चा फल है। दर्शन-पूजन का यही असली प्रयोजन है।

जिनागम में जिनदर्शन को भी धर्म के मूल सम्यग्दर्शन का ही निमित्त माना गया है, आत्मदर्शन का हेतु माना गया है; अतएव आचार्यों ने देवदर्शन को भी अष्ट मुलगुणों में सम्मिलित किया है।

जिनबिम्ब दर्शन को सम्यग्दर्शन का निमित्त तो कहा ही है, यह सातिशय पुण्यबंध का कारण भी है और अतिशय पुण्य का फल भी है।

सातिशय पुण्योदय के बिना जिनेन्द्रदेव के दर्शनों का लाभ एवं उनकी भवोच्छेदक वाणी सुनने का सौभाग्य भी नहीं मिलता।

बहुप्रचलित देवस्तुति की निम्नांकित पंक्तियों में यह बात स्पष्टरूप से कही गई है -

अति पुण्य उदय मम आया, प्रभु तुम्हरा दर्शन पाया।
अबतक तुमको बिन जाने, दु:ख पाये निज गुण हाने ॥

हे प्रभु! आज हमारा महान पुण्य का उदय आया है, जो हमें आप के दर्शनों का लाभ मिला। अबतक आपको जाने बिना हमने अनंत दु:ख प्राप्त किये और अपने को नहीं पहचान पाने से अपने गुणों की हानि की और आत्मगुण प्रगट नहीं कर पाये।

एक अन्य स्तुति में जिनेन्द्र भगवान का भक्त अपने भाग्य की सराहना करता हुआ कहता है -

धन घड़ी धन दिवस यो ही, धन जनम मेरो भयो।
धन भाग मेरो उदय आयो, दरस प्रभुजी को लख लयो ॥

इसी संदर्भ में अभिषेक पाठ की पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं, जिसमें जिनेन्द्रदेव के दर्शन व स्मरण करके भक्त अपने नेत्रों को और मन को सफल मानता है। वे पंक्तियाँ इसप्रकार हैं -

पावन मेरे नयन भये तुम दरस तैं,
पावन पान भये तुम चरनन परस तैं।
पावन मन ह्वै गयो तिहारे ध्यान तैं,
पावन रसना मानी तुम गुण गान तैं ॥
पावन भई परजाय मेरी, भयो मैं पूरन धनी।
मैं शक्तिपूर्वक भक्ति कीनी, पूर्ण भक्ति नहीं बनी ॥

इसके सिवाय जिन दर्शन को निज दर्शन व भेदविज्ञान का कारण बताते हुए कहा गया है -

जय परम शान्त मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेतु।

* * *

तुम गुण चिन्तत निज पर विवेक प्रगटै विघटैं आपद अनेक ॥

जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा की परम शान्तमुद्रा भव्यजीवों को निजानुभूति में कारण होती है तथा उनके गुणों का स्मरण करने से स्वपर का भेदविज्ञान प्रगट होता है।

एक प्रभाती (भजन) में भी कविवर दौलतराम ने जिनेन्द्रदेव के दर्शन का फल निरूपण करते हुए लिखा है -

निरखत जिनचन्द्रवदन, स्व-पद सुरुचि आई ॥टेक ॥
प्रगटी निज-आन की पिछान, ज्ञानभान की
कला होत उदोत, मोह यामिनी पलाई ॥निरखत. ॥

तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्रदेव के मुखारविन्द के दर्शन करने से आत्मा के स्वरूप में रुचि जाग्रत हो गई, अपने आत्मा की अनन्त सामर्थ्य स्वरूप सर्वज्ञ स्वभाव की प्रतीति आ गई, अपने व पराये की पहचान हो गई।

सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो जाने से मोहरूप अँधियारी रात्रि का नाश हो गया।'

जिनबिम्ब के दर्शन-पूजन की महिमा दर्शानेवाला निम्नांकित कथन भी द्रष्टव्य है -

'जो पुरुष श्रीजिनेन्द्रदेव के आकारवाला जिनबिम्ब बनवाकर स्थापित करता है, श्रीजिनेन्द्रदेव की पूजा व स्तुति करता है उसको कुछ भी दुर्लभ नहीं है।[1]'

इसी संदर्भ में सर्वाधिक प्राचीन आचार्य समन्तभद्र का कथन भी द्रष्टव्य है। वे रत्नकरण्डश्रावकाचार में लिखते हैं कि जिनेन्द्र भगवान का भक्त लौकिक व लोकोत्तर सभी सुख प्राप्त करता है, उनका मूल कथन इसप्रकार है-

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्र शिरोऽर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैतिभव्यः ॥42॥

जिनेन्द्र भगवान का भक्त भव्य जीव अपार महिमा के धारक इन्द्रपद को, सब राजाओं से पूजित चक्रवर्ती पद को और तीन लोक से पूजित तीर्थंकर पद को क्रमशः प्राप्त करके सिद्धपद की प्राप्ति करता है।

जो जिनेदव के दर्शन नहीं करते, उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कारते हुए आचार्य कहते हैं कि -

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवनं तेषां तेषां धिक् च गृहश्रमम् ॥

जो प्रतिदिन श्रीजिनेन्द्र का दर्शन और स्तवन नहीं करते, उनका जीवन निष्फल है और उनके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है।

इसी बात की पुष्टि में आगे कहा है कि -

---

1. जिनबिम्बं जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम्।
य: करोति जनस्तस्य न किंचिद् दुर्लभं भवेत्॥

"जो प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव के दर्शन नहीं करते, उनके गुणों का स्मरण नहीं करते, पूजन-स्तवन नहीं करते तथा मुनिजनों को दान नहीं देते उनका गृहस्थाश्रम में रहना पत्थर की नाव के समान है। वे गहरे भवसमुद्र में डूबते हैं - नष्ट होते हैं।[1]"

जिनेन्द्र का भक्त सदा यही भावना भाता है कि - मेरे हृदय में सदैव जिनदेव की भक्ति बनी रहे, क्योंकि यह सम्यक्त्व एवं मोक्ष का भी कारण है।

भगवान जिनेन्द्रदेव की भक्ति मेरे हृदय में सदा उत्पन्न हो, क्योंकि यह संसार का नाश करनेवाले और मोक्ष प्राप्त करानेवाले सम्यग्दर्शन को प्राप्त कराने में सद्निमित्त है।[2]

श्री अभ्रदेव विरचित व्रतोद्योतन श्रावकाचार में कहा है कि -

भव्य जीवों के द्वारा प्रात: उठकर अपने शरीर की उत्तम प्रकार से शुद्धि करके जिनबिम्ब के दर्शन किए जाते हैं, क्योंकि जो जीव प्रतिदिन प्रात:काल शारीरिक शुद्धि करके सर्वप्रथम जिनबिम्ब का दर्शन करते हैं, वे भव्य अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करेंगे।[3]

इसी बात को पुष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि -

जो भव्य जीव जिनस्तवन करके, सामायिक की शुद्धि करके, पंचकल्याणक की स्तुति करके, पंचनमस्कार मंत्र को हृदय में धारण करके, चैत्यस्तुति करके, सिद्धभक्ति करके श्रुत व गुरु की भक्ति करता है, वह

---

1. यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते।
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्तया परम्॥
सामर्थ्ये सति तद् गृहाश्रमपदं, पाषाणनावा समम्।
तत्रस्था भव सागरेऽति विषमे मज्जन्ति वश्यन्ति च॥ -पद्मनन्दिपंचविंशति 225

2. जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्ति:- सदास्तु मे।
सम्यक्त्वमेव संसारवारणं मोक्षकारणम्॥

3. भव्येन प्रातरुत्थाय जिनबिम्बस्य दर्शनम्।
विधाय स्वशरीरस्य क्रियते शुद्धिरुत्तमा॥

सांसारिक सुख को प्राप्त करता हुआ मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।"[1]

जो जीव प्रतिदिन जिनदेव के भक्ति पूर्वक दर्शन करते हैं, पूजन करते हैं, स्तुति करते हैं; वे तीनों लोकों में दर्शनीय, पूजनीय और स्तवन करने योग्य होते हैं।

देवदर्शन की महिमा बताते हुए किसी कवि ने कहा है -

'जब चिन्तों तब सहस फल, लक्खा गमन करेय।
कोड़ा-कोड़ी अनन्त फल, जब जिनवर दरसेय॥

इसी बात की पुष्टि में रविषेणाचार्य का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

''जब कोई व्यक्ति जिनेन्द्रदेव के दर्शनार्थ जाने का मन में विचार करता है, तब वह उस विचार मात्र से एक उपवास के फल को प्राप्त कर लेता है। तथा जब वह चलने को तैयार होता है, तो उसके परिणाम और अधिक विशुद्ध होने से वह दो उपवास के फल का भागी होता है। और जब वह गमन करने का उपक्रम करता है, तब उसे तीन उपवास जितना पुण्यलाभ होता है। गमन करने पर चार उपवास का, मार्ग में पहुँचने पर एक पक्ष के उपवास का, जिनालय के दर्शन होने पर एक मास के उपवास का, जिनालय में पहुँचने पर छह मास के उपवास का, मन्दिर की देहली पर पहुँचते ही एक वर्ष का, जिनेन्द्र की प्रदक्षिणा करने पर सौ उपवास का, नेत्रों से साक्षात् जिनेन्द्र के दर्शन करने पर हजार उपवास का फल मिलता है।[2]

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिनबिम्बदर्शन या देवदर्शन की महिमा गाते-गाते हमारे आचार्य भी थकते नहीं हैं। समन्तभद्र जैसे तर्क शिरोमणि

---

1. भव्येन स्तवनं विधाय नियमं, संसोध्य सामादिकम्।
स्तुत्वा पंचनमस्कृतिं स्वहृदये, धृत्वा च चैत्यस्तुतिम्॥
कृत्वापंच गुरून् प्रणामरचिता, सिद्धस्यभक्तिस्तथा।
शास्त्रस्यापि गुरोश्च येन लभते, सौख्याय मोक्षं पुनः॥
2. रविषेणाचार्य पद्मपुराण, पर्व 32

आचार्यों की हृदय-वीणा के तार भी स्वयंभूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र व जिनस्तवन स्तोत्र के रूप में भक्तिभाव के शुभराग से प्रभावित होकर झनझना उठे।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार की 80वीं गाथा में स्पष्ट कहा है कि जो अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से पहचानता है, वही अपने आत्मा के स्वरूप को जानता है तथा अरहंत परमात्मा वह अपने आत्मा के स्वरूप को जाननेवालों का मोह नष्ट हो जाता है, वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है।

हम सब जिनदर्शन के माध्यम से निजदर्शन का सुफल प्राप्त करें, तभी हमारा जिनदर्शन करना सार्थक होगा।

जिनबिम्ब दर्शन करने का वास्तविक फल निरूपित करनेवाले कविवर बुधजन का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

'मिट गयो तिमिर मिथ्यात्व मेरो, उदय रवि आतम भयो।
मो उर हरख ऐसो भयो, मानु रंक चिन्तामणि लयो॥
धनि घड़ी औ धनि दिवस यो ही धनि जनम मेरो भयो।
अब भाग्य मेरो उदय आयो, दरस प्रभुजी को लखि लयो॥

भक्त अपने हृदय का हर्षोल्लास प्रगट करते हुए कह रहा है कि हे प्रभो! आपके मुख मण्डलरूप दिनकर के दर्शन करने से मेरा मिथ्यात्वरूपी अंधकार नष्ट हो गया है और मेरे हृदय में सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो गया है। अत: मुझे ऐसा हर्ष हो रहा है, जैसे किसी रंक को चिन्तामणि रत्न ही मिल गया है।

कविवर दौलतरामजी ने भी जिनदर्शन का सच्चा फल निरूपित करते

हुए देवस्तुति में कहा है कि -

'तुम गुणचिंतत निजपर विवेक प्रगटै, विघटैं आपद अनेक ।'

हे प्रभु आपके गुणों का चिन्तवन करने से अपने-पराये की पहचान होती है, भेदविज्ञान रूप विवेक प्रगट हो जाता है तथा अनेक आपत्तियाँ-विपत्तियाँ विघटित हो जाती हैं।

संस्कृत के दर्शनपाठ में भी यही भाव दर्शाते हुए कहा है -

'दर्शनं देव देवस्य दर्शनं पापनाशनम् ।
दर्शनं स्वर्गसोपानं दर्शनं मोक्षसाधनम् ।
दर्शनेन जिनेन्द्राणां साधूनां वन्दनेन च ।
न चिरं तिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोदकम् ॥'

पर, यहाँ देखना यह है कि जब देवदर्शन की इतनी महिमा है तो हमारे द्वारा प्रतिदिन किए जानेवाले देवदर्शन का यह सब फल हमें अब तक प्राप्त क्यों नहीं हुआ ? क्या कमी रह गई हमारे देवदर्शन करने में ? कहीं न कहीं कुछ न कुछ कमी तो होना ही चाहिए, अन्यथा उपर्युक्त लाभ अवश्य मिलता।

कहीं हम लौकिक विषयों की वांछा के चक्कर में तो नहीं पड़ गये ?

कहीं हमने सच्चे वीतरागी देव को रागी देवताओं की श्रेणी में तो खड़ा नहीं कर दिया ? हम लौकिक कामनाओं का पुलिन्दा लेकर कहीं गलत जगह तो नहीं पहुँच गये ? क्या हमने सच्चे देव का सही स्वरूप समझा है और इनके दर्शन से क्या केवल सम्यग्दर्शन-आत्मदर्शन ही चाहा है ? आदि कुछ बातें इस दिशा में विचारणीय हैं, यदि हम सही दिशा में सही निर्णय पर पहुँचे हैं तो हमें देवदर्शन का लाभ अवश्य मिलेगा, इसमें जरा भी सन्देह की गुजांइश नहीं है।

वर्तमानयुग में जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर की आवश्यकता एवं उपयोगिता पर प्रकाश डालनेवाला गुरुदेवश्री कानजी स्वामी का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है -

पद्मनन्दि पंचविंशतिका के देशव्रतोद्योतन अधिकार पर प्रवचन करते समय वे कहते हैं कि -

"इस दुखमा नामक पंचम काल में जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित धर्म क्षीण होता जा रहा है। इसमें जैनागम अथवा जैनधर्म का आश्रय लेनेवाले जन थोड़े और अज्ञानरूप अन्धकार का प्रचार करनेवाले बहुत अधिक हैं - ऐसी अवस्था में जिनप्रतिमा और जिनगृह के प्रति भक्ति रखनेवाले मनुष्य भी देखने में नहीं आते; फिर भी जो भव्य विधिपूर्वक उक्त जिनप्रतिमा और जिनगृह का निर्माण करता है, वह व्यक्ति सज्जन पुरुषों के द्वारा वंदनीय है।

मूल श्लोक इसप्रकार है -

काले दुःखं संज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणताम्।
तुच्छे सामयिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति॥
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते।
यस्तत्कारयते यथाविधि पुरर्भव्यः स वन्द्यः सताम् ॥21॥

गुरुदेवश्री आगे कहते हैं कि जहाँ तीर्थंकर विराजते हैं, वहाँ तो धर्म की अविरल धारा चलती है, चक्रवर्ती और इन्द्र जैसे इस धर्म की आराधना करते हैं; परन्तु वर्तमान में तो यहाँ जैनधर्म बहुत घट गया हे। तीर्थंकरों का विरह, मुनिवरों की भी दुर्लभता और विपरीत मान्यता के पोषण करनेवाले मिथ्यामार्गों का अन्त नहीं - ऐसी विषमता के बीच में भी जो जीव धर्म के प्रेम को स्थिर रखकर भक्ति से जिनमन्दिर आदि बनवाते हैं, वे धन्य हैं। दर्शनदशक में भी आता है -

चैत्यालय जो करें धन्य सो श्रावक कहिए।
तामें प्रतिमा धरें धन्य सो भी सरदहिय॥[1]

पूर्व में तो भरत चक्रवर्ती जैसे ने भी कैलास पर्वत पर तीन चौबीसी तीर्थंकरों के रत्नमय जिनबिम्बों की स्थापना की थी। दूसरे भी अनेक जड़े-

1. कविवर साहिब राय : दर्शनदशक, छन्द 10

बड़े राजा-महाराजा और धर्मात्माओं ने विशाल जिनमन्दिर बनवाये थे।

देखो ! मूड़बिद्री में -त्रिभुवनतिलक चूड़ामणि' जिनमन्दिर कितना बड़ा है ? उसके एक हजार तो स्तंभ हैं और महामूल्य रत्नों की पैंतीस मूर्तियाँ भी वहाँ हैं, ये भी धर्मात्मा श्रावकों ने दर्शन हेतु स्थापी हैं।

श्रवणबेलगोला में भी इन्द्रगिरि पहाड़ में खुदी हुई 57 फीट ऊँची बाहुबली भगवान की प्रतिमा कितनी अद्भुत है ? अहा! जैसे वीतरागता का पिण्ड हो !पवित्रता और पुण्य दोनों उसमें दिखाई दे रहे हैं। इसप्रकार श्रावक बहुत भक्ति से जिनबिम्ब स्थापित और जिनमन्दिर निर्माण करता है।

आजकल तो यहाँ अनार्यवृत्तिवाले जीव बहुत हैं और आर्यवृत्तिवाले जीव थोड़े हैं, उनमें भी जैन थोड़े, जैनों में भी धर्म के जिज्ञासु बहुत थोड़े और उनमें भी धर्मात्मा और साधु तो अत्यन्त विरल हैं। वस्तुत: वैसे तो ये तीनों कालों में विरल हैं, परन्तु वर्तमान में यहाँ तो बहुत ही विरल हैं। जहाँ देखो, वहाँ मिथ्यात्व का जोर फैला हुआ है। ऐसे कलिकाल में भी जो जीव भक्तिपूर्वक जिनालय और जिनबिम्ब की विधिपूर्वक स्थापना कराते हैं; वे जिनदेव के भक्त, सम्यग्दृष्टि, धर्म के रुचिवंत हैं और ऐसे धर्मीजीवों की सज्जन लोग प्रशंसा करते हैं।

देखो भाई ! जिनमार्ग में वीतराग प्रतिमा अनादि की हैं, स्वर्ग में शाश्वत जिनप्रतिमायें हैं, नन्दीश्वर द्वीप में हैं, सुमेरु पर्वत पर हैं। इसप्रकार जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा की बहुत आवश्यकता और उपयोगिता है।

सभी जीव जिनदर्शन की यथार्थ महिमा को जानकर, उसके प्रयोजन को पहचान कर, उसके अवलम्बन से अपने आत्मा को जाने-पहचाने ओर और अपना कल्याण करें। □

पाप का बाप/धर्म का मर्म

जैनदर्शन में मिथ्यात्व को सर्वाधिक अहितकर और सम्यक्त्व को परम हितकर बताया है। इस संदर्भ में समन्तभद्राचार्य का कथन द्रष्टव्य है -

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्चमिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभृताम् ॥34॥

प्राणियों को तीनों लोकों व तीनों कालों में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई कल्याणकारी और मिथ्यात्व के समान अन्य कोई अकल्याणकारी वस्तु नहीं है।

इसी बात का समर्थन करते हुए धर्मसंग्रह में कहा गया है कि इस जीव का तीनों लोकों में सम्यक्त्व के समान कोई बन्धु नहीं है और मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई दु:खदायक शत्रु नहीं है। इसलिए मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व को अंगीकार करो। यही आत्मा को कुमार्ग से बचानेवाला है।[1]

एक मिथ्यात्व भाव से ही सब पापों का जन्म होता है, अत: इसे सब पापों का बाप कहा जाता है और सम्यक्त्व ही धर्म का शुभारम्भ होता है, अत: सम्यक्त्व को धर्म का मूल कहा है।

मिथ्यात्व का अर्थ है - आत्मा, साततत्त्व और सच्चेदेव-शास्त्र-गुरु के सम्बन्ध में उल्टी समझ, विपरीत मान्यता और सम्यक्त्व का अर्थ है इनके सम्बन्ध में सच्ची समझ, यथार्थ मान्यता।

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है, सम्यग्दर्शन के बिना धर्म का शुभारंभ ही नहीं होता।

सम्यग्दर्शन की महिमा से अभिभूत होकर पाण्डे राजमल्लजी ने तो यहाँ तक लिखा है "इस संसार में एकमात्र सम्यग्दर्शन ही दुर्लभ है, सम्यग्दर्शन

---

1. सम्यक्त्व सममात्मीयं किमन्यद्भुवनोदरे।
न मिथ्यात्वसमं किंचिदनात्मीयमहात्मनाम् ॥61॥

ही ज्ञान व चारित्र का बीज है, इष्टपदार्थ की सिद्धि है, परम मनोरथ है, अतीन्द्रिय सुख है और यही कल्याणों की परम्परा है।''[1]

ऐसे सम्यग्दर्शन के स्वरूप का कथन करते हुए आचार्य पद्मनन्दि ने कहा है कि ''शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना निश्चय सम्यग्दर्शन है तथा जीवादि सातों तत्त्वों की तथा सच्चे देव-शास्त्र व गुरु की यथार्थ श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है।''

आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में -

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥4॥[2]

आत्मश्रद्धान के साथ सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। वह सम्यग्दर्शन तीन मूढ़ता एवं आठों मदों से रहित और आठों अंगों सहित होता है।

इसका विस्तृत विवरण रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका से जानना चाहिए।

आत्मा, देव-शास्त्र-गुरु व सात तत्वों के सम्बन्ध में उल्टी मान्यता मिथ्यात्व है। विपरीत अभिप्राय सहित अतत्वश्रद्धान का नाम ही मिथ्यात्व है। जैसा वस्तु का स्वरूप नहीं है, वैसा मानना तथा जैसा है वैसा नहीं मानना - ऐसे विपरीत अभिप्राय सहित अन्यथा प्रतीति ही मिथ्यादर्शन है।

इस मिथ्यात्व के कारण जीवों को समीचीन (सच्चा) धर्म अच्छा नहीं लगता। जिसतरह पित्तज्वरवालों को मीठा दूध अच्छा नहीं लगता, ठीक उसीप्रकार मिथ्यादृष्टियों को वीतरागधर्म की बात अच्छी नहीं लगती, शुद्धात्मा की बात नहीं सुहाती। अतएव मिथ्यात्व के त्याग का उपदेश देते हुए मार्मिक शब्दों में कहा गया है कि -

वरं सर्पमुखे वासो वरं च विषभक्षणम्।
अचलाग्निजले पातो मिथ्यात्वे च जीवितम् ॥

1. लाटी संहिता, द्वि. सर्ग, 1,2,3 एवं 13 वाँ श्लोक 2. रत्नकरण्डश्रावकाचार

मिथ्यात्वसहित जीवन जीने से तो सर्प के मुख में प्रवेश करना अच्छा है, विषभक्षण कर लेना अच्छा है, दावाग्नि में भस्म हो जाना या पानी में डूबकर मर जाना अच्छा है, पर मिथ्यात्व सहित जीवन जीना किसी भी हालत में अच्छा नहीं है; क्योंकि इनके कारण तो एक पर्याय ही नष्ट होती है, पर मिथ्यात्व के कारण तो भव-भव में दु:ख भोगना पड़ता है।

पण्डित टोडरमलजी ने तो इसे सबसे बड़ा पाप कहा है, क्योंकि इसी के कारण सब पापों की परम्परा चलती है। इसी विपरीत मान्यता या उलटी समझ के कारण पर-पदार्थों में कर्तृत्व एवं इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पना होती है, उससे राग-द्वेष का जन्म होता, राग-द्वेष से कर्मबन्ध होकर संसार में जन्म-मरण का दु:ख होता है। इसकारण पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं -

"जिनधर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है, इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादि से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है।"[1]

आगम में इस मिथ्यात्व के विषय में क्या-क्या नहीं कहा, जितने कठोर शब्द हो सकते थे, लगभग सबका प्रयोग करके इसे त्यागने की प्रेरणा दी है - जो मूलत: इसप्रकार है -

सकल-दुरित-मूलं पापवृक्षस्य बीजम्।
नरकगृहं प्रवेशं स्वर्ग-मोक्षैकशत्रुम्॥
त्रिभुवन-पति-निद्यं मूढलोकैर्गृहीतम्।
त्यज: सकलमसारं त्वं च मिथ्यात्वबीजम्॥

मिथ्यात्व के समान पाप और सम्यग्दर्शन के समान धर्म नहीं है।

अत: सामान्य श्रावकों को मिथ्यात्व के कारणभूत मिथ्या देव-गुरु-धर्म तथा इनके सेवकों से भी सदा दूर ही रहना चाहिए, ताकि उसके दुष्प्रभाव से बचा जा सके। □

1. मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार छठवाँ, पृष्ठ - 192

जीवदया

भूख से, प्यास से अथवा अन्य किसी भी दुःख से जीवों को देखकर जो स्वयं दुःखी होकर उनके दुःखों को दूर करना चाहता है, उसके उस दुःख मिश्रित शुभभाव को सामान्यतया दया, करुणा या अनुकम्पा कहते हैं।[1-2]

पंचाध्यायीकार ने अनुकम्पा का व्यापक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'सर्व प्राणियों के प्रति उपकारबुद्धि रखना, मैत्रीभाव रखना, द्वेषबुद्धि छोड़कर मध्यस्थभाव रखना भी दया है, अनुकम्पा है।

प्राणिमात्र के प्रति वैरभाव छोड़कर निष्कषायभाव हो जाना भी अनुकम्पा का ही श्रेष्ठरूप है।[3]

भगवती आराधना में अनुकम्पा के तीन रूप कहे हैं -

'अनुकम्पा त्रिप्रकारा - धर्मानुकम्पा मिश्रानुकम्पा सर्वानुकम्पाचेति।'

सकलसंयमी मुनिराजों के प्रति जो दयाभाव आता है, वह धर्मानुकम्पा है। देशव्रती संयतासंयत नैष्ठिक श्रावकों के प्रति उत्पन्न हुए अनुकम्पा के भावों को मिश्रानुकम्पा कहते हैं और सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीव सम्पूर्ण जीवों पर, प्राणिमात्र पर जो दयाभाव रखते हैं, उसे सर्वानुकम्पा कहते हैं।

गूँगे-बहरे, लूले-लँगड़े, अंधे-कोड़ी, दीन-निर्धन, रोगी और घायल व्यक्तियों को देखकर, विधवा, अनाथ, असहाय, अबला और सताई हुई नारियों को देखकर, लुटे-पिटे, चीत्कार करते, रोते-बिलखते आर्तनाद

---

1. तिसदं बुभुक्खिदं वा, दुहिदं दट्ठूण जी दू दुहि भागो।
   पडिवज्जदि तं किवया, तस्सादा होदि अणुकम्पा॥ पंचास्तिकाय 137/210
2. तृषितं वा बुभुक्षितं वा दुखितं वा दृष्टवा कमपि प्राणिनं स्फुटं दुः खिन्नमना सन् प्रतिपद्यते स्वीकरोति दया परिणामन तस्य पुरुषस्येषा प्रत्यक्षीभूता शुभोपयोगरूपानुकम्पा दया भवति। -प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति 268
3. अनुकम्पा क्रियाज्ञेया, सर्व सत्वेष्वनुग्रहः।
   मैत्री भावोऽथ मध्यस्थं, नैशल्यं वैर वर्जनात्।। प. ध्या. उ. 446

करते, सुरक्षा की भीख माँगते मानवों को देखकर, कटते-पिटते, मरते-मारते, भूखे-प्यासे, तड़पते, भयाक्रान्त पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों को देखकर तथा सबल पशुओं द्वारा निर्बल पशुओं को जीवित निगलते देखकर, मछलियों, मुर्गे-मुर्गियों व भेड़-बकरियों को धीवरों व कसाइयों के हाथों निर्दयता पूर्ण व्यवहार करते देखकर जो हृदय में करुणा का स्रोत प्रवाहित होता है, दिल दहल जाता है, मन रो पड़ता है; हरतरह से उन दु:खी प्राणियों की मदद सहायता करने की तीव्र भावना होती है, उस भावना को सर्वानुकम्पा कहते हैं।

आचार्य पद्मनन्दि ने भी 'दया' की महिमा गाते हुए कहा है कि 'जिनके हृदय में जीवों के प्रति दयाभाव नहीं है, उनके हृदयों में धर्म कैसे ठहर सकता है। यह दयाभाव धर्मरूप वृक्ष का मूल है। इसका सर्वव्रतों में प्रथम स्थान है। यह सम्पदाओं का धाम है और गुणों का निधान है। अतएव विवेकीजनों को जीवों के प्रति दयाभाव अवश्य रखना चाहिए।'[1]

परन्तु लगभग सभी व्यक्ति केवल इस सर्वानुकम्पा को ही दया समझते हैं और उनका ऐसा समझना अकारण भी नहीं है, क्योंकि लोक में तथा शास्त्रों में इसी की बाहुल्यता है।

धर्मानुकम्पा व मिश्रानुकम्पा को तो प्राय: सभी श्रद्धा व भक्ति की भावना समझते हैं, पर वह दया का ही एक प्रकार है। जब संयत (मुनि) या संयतासंयत (क्षुल्लक-एलक) आदि धर्मात्माओं को किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति में देखकर हमारा हृदय दु:खी हो जाता है, तो वह शुभभाव तो स्पष्ट अनुकम्पा है ही, साथ ही उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति के शुभभावों को भी आगम में अनुकम्पा ही कहा गया है।[2]

सर्वानुकम्पा से सामान्य पुण्यबंध होता है और मिश्रानुकम्पा व

1. पद्मनन्दि पंचविंशतिकागत श्रावकाचार श्लोक 37 से 39
2. भगवती आराधना, गाथा 1834 व 1835

धर्मानुकम्पा सातिशय (विशेष) पुण्यबंध की कारण है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ये तीनों ही प्रकार का जो दया का भाव है, इससे पुण्यबंध होता है। पर ध्यान रहे, इनके सिवाय एक दया और है जिसे स्वदया कहते हैं। स्वदया अर्थात् अपने दु:ख देखकर संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर, इनसे भेदज्ञान करके काँटे की तरह चुभनेवाली माया-मिथ्या-निदान - त्रिशल्यों का त्याग कर निष्कषाय हो जाना। यही स्वदया वास्तविक धर्म है।

इन सब में स्व-अनुकम्पा ही सर्वश्रेष्ठ अनुकम्पा है, क्योंकि पर-अनुकम्पा तो अज्ञानदशा में भी अनंतबार की, पर स्व-अनुकम्पा हमने आज तक नहीं की, अन्यथा आज हम इस दु:खद स्थिति में नहीं होते, क्योंकि स्वदया निर्बन्ध दशा प्रगट करने की कारण है।

ध्यान रहे, यह स्व-अनुकम्पा मिथ्यात्व शल्य निकले बिना उत्पन्न ही नहीं होती; क्योंकि मिथ्यात्व से आत्मा में परपदार्थों के प्रति इष्ट-अनिष्ट रूप मिथ्या कल्पनायें उत्पन्न होती हैं। मिथ्याकल्पनाओं से राग-द्वेषादि भावों से आत्मा कर्मों से बँधता है और कर्म बन्धन से संसार परिभ्रमण होता है।

इसप्रकार स्व-अनुकम्पा के अभाव में ही यह जीव अनादि से संसार-सागर में गोते खा रहा है। यदि हमें वस्तुत: संसार के सुख दु:खरूप लगे हों, संसार में भटकते-भटकते थकान महसूस होने लगी हो, तो पर-दया के साथ-साथ स्वदया भी करनी होगी।

यह स्वदया ही वस्तुत:- धर्म का मूल है। यह स्वदया का भाव सबके हृदय में जागृत हो - इसी मंगल कामना के साथ अपनी बात से विराम लेता हूँ। जय जिनेन्द्र।

□

जिनेन्द्र पूजन का अचिन्त्य प्रभाव

"गृहाचार में बड़ा शरण, समस्त परिणाम की विशुद्धता करने वाला एक नित्य पूजन करना ही है..... बहुरि पूजन करना, करावना, करते को भला जानना सो समस्त पूजन ही है..... मन से, वचन से, काय से, धन से, विद्या से, कला से - जैसे भी अरहंत के गुणों में अनुराग बढ़े वैसे करना; क्योंकि जिन मन्दिर की वैयावृत्ति सम्यक्त की प्राप्त करे है तथा मिथ्याज्ञान, मिथ्याश्रद्धान का अभाव करे है, स्वाध्याय, संयम, तप, व्रत, शीलादि गुण जिन मन्दिर का सेवन तैं ही होंय हैं, नरकतिर्यंचादि गतिनि में परिभ्रमण का अभाव होय। जिन मन्दिर समान कोऊ उपकार करनेवाला जगत में दूजा नाहीं है।....."

- पण्डित सदासुखदासजी : टीका रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ -229

देवलोक ताको घर आँगन, राजरिद्धि सेवे तसु पाय।
ताके तन सौभाग्य आदि गुण, केलि विलास करै नित आय॥
सो नर तुरत तरै भव सागर, निर्मल होय मोक्ष पद पाय।
द्रव्य-भाव विधि सहित 'बनारसि', जो जिनवर पूजै मन लाय॥

- पण्डित बनारसीदास : बनारसीबिलास, पृष्ठ - 22

जिन सुमरो जिन चिन्तवो, जिन ध्यावो मन शुद्ध।
लहो परमपद क्षणिक में, होकर के प्रतिबुद्ध॥

योगीन्दुदेव : योगसार हिन्दी पद्यानुवाद

अभिमत

अत्यन्त उपयोगी कृति

सोमदेव सूरी के शब्दों में 'विशिष्ट विद्वान वह है कि जो पुरानी बात को नये ढंग से प्रस्तुत करने में सक्षम हो' (यशस्तिलक चम्पू)

भारिल्लजी में यह बात अक्षरशः घटित होती है। आपकी लेखनी में जादू है। आपने लगभग चालीस प्राचीन श्रावकाचारों का गहन चिन्तन-मनन करके जो तत्त्व निकाला है, वह स्तुत्य है। इसमें प्राचीन श्रावकाचारों का सार ऐसी पद्धति से भर दिया है, जिससे - 'गागर में सागर' उक्ति चरितार्थ हो गई है। यत्र-तत्र अपने प्रतिपाद्य विषय का समर्थन आधुनिक विज्ञान से भी कर दिया है। इससे कृति का आकर्षण बढ़ गया है और उपादेयता भी।

प्रस्तुत सामान्य श्रावकाचार में अष्ट मूलगुणों का पठनीय विशद विवेचन, श्रावक धर्म प्रतिपादन के प्रकार, मद्य, मांस, मधु, पाँच उदुम्बर फल, स्थूल पाप, रात्रि भोजन, अनछना जल, सप्त व्यसन, द्विदल और अभक्ष्य भक्षण - इन सबके त्याग पर अत्यन्त, सरल भाषा में विशद प्रकाश डाला गया है। इस विषय में जैन वाङ्मय के प्रमाणों के अतिरिक्त महाभारत आदि जैनेतर साहित्य के अनेक उत्तम प्रमाण दिये गये हैं। इनके बाद देवदर्शन, पाप का बाप/धर्म का मर्म, जीवदया और जिनेन्द्र पूजन का अचिन्त्य प्रभाव - इन विषयों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'विदाई की बेला में' भारिल्लजी ने (सल्लेखना) की विशद चर्चा की है। 'विदाई की बेला' उपन्यास शैली में लिखी गई आपकी ही एक उत्कृष्ट रचना है, जिसमें सल्लेखना का विशद विवेचन किया गया है।

जैनों को जैन बनाये रखने के लिए और उन्हें संस्कारवान बनाने के लिए यह कृति अत्यन्त उपयोगी है। यह पुस्तक प्रत्येक जैन के घर में होनी चाहिए।

- पण्डित अमृतलाल शास्त्री, साहित्याचार्य

ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनूं (राज.)

प्रत्येक परिवार में होनी चाहिए

सामान्य श्रावाकाचार के ज्ञान के लिए पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित सामान्य श्रावकाचार एक बहुत अच्छी पुस्तिका है। जिसका अध्ययन प्रत्येक बालक, युवक और गृहस्थ को करना चाहिए। इसके अध्ययन से जिनदर्शन क्यों करना, रात्रि भोजन त्याग, अभक्ष्यभक्षण त्याग, सप्तव्यसन त्याग, पानी छानकर पीना, अष्टमूलगुण आदि अनेक बातों के महत्त्व का ज्ञान होने के साथ ही उन बातों के आचरण की ओर झुकाव होगा आदि अष्ट मूलगुणों का पालन क्यों करना चाहिए - इत्यादि बातों का सप्रमाण तथा सयुक्तिक उत्तर उक्त पुस्तिका में मिलेगा।

- प्रो. उदयचन्द जैन, सर्वदर्शनाचार्य
सेवा निर्वृत्त - हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

एक नई चिन्तन दिशा

अध्यात्मगर्भित आगमोक्त आधार पर पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने 'सामान्य श्रावाकाचार' नामक कृति लिखकर जैनी भाइयों को एक नई चिन्तन दिशा प्रदान की है। देवदर्शन, पाप का बाप, जीवदया, जिनेन्द्रपूजन इत्यादि बातों को अध्यात्म के आलोक में प्रस्तुत कर एक अपूर्व मानसिक आहार प्राप्त हुआ है। उक्त कृति का सर्वत्र प्रचार आवश्यक है।

- सौ. विद्युतलता व्होरा, पूना (महा.)

सभी भाषाओं में होनी चाहिए

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'सामान्य श्रावकाचार' पुस्तिका अत्यन्त सरल है। प्रत्येक व्यक्ति को पठनीय है। इस पुस्तिका का सम्पूर्ण भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए, क्योंकि जैनी सर्वत्र रहते हैं।

मैं स्वयं को भाग्यशाली मानता हूँ कि मैंने इस कृति का अनेक बार स्वाध्याय किया है; यह पुस्तिका अत्यन्त उपयोगी है।

- पण्डित महावीर बखेड़ी शास्त्री एम.ए., बेलगाँव (कर्नाटक)

बड़ी प्रेरणा मिली

प्रिय शुद्धात्मप्रकाशजी भारिल्ल

आप शुद्धात्मा का प्रकाश फैलाने में सफल हों - यह मंगल कामना है। आ. पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'सामान्य श्रावाकाचार' पढ़कर बड़ी प्रेरणा मिली। उनके लिखे चारों उपन्यास अत्यन्त प्रभावी रहे हैं। इसी तरह वे और साहित्य सृजन कर जिनवाणी की सेवा करें - यह मंगल कामना है।

- निहालचन्द अजमेरा

निहाल मेडिकल स्टोर, भीलवाड़ा (राज.)

सुन्दर एवं शोभनीय

भौतिकवादी भोगप्रधान युग में 'सामान्य श्रावकाचार' ग्रन्थ एक भव्यजीवों को पथप्रदर्शक का कार्य करेगा।

लेखक ने सम्पूर्ण श्रावकाचारों के आधार पर इस कृति को पूर्णतः आगमसम्मत बनाया है।

प्रस्तुत पुस्तिका में मूलगुण पालन, मद्य-मांस-मधु, अण्डा, रात्रिभोजन, अनछना पानी, सप्तव्यसन, अभक्ष्य-भक्षण इत्यादि का त्याग तथा देवदर्शन, जिनपूजन, मिथ्यात्व, दया आदि विषय भी सम्मिलित हैं।

इस पुस्तिका में शास्त्राधार से तर्क तथा उदाहरणों से यह स्पष्ट किया हैकि बाह्य सदाचार के बिना अंतरंग में भावों की शुद्धि संभव नहीं।

अतः लोक एवं लोकोत्तर मार्ग को प्रशस्त बनाने के उद्देश्य से सभी आत्मार्थी इस पुस्तिका का एकाग्रता के साथ स्वाध्याय कर जीवन को सार्थक करें।

- पण्डित मन्नूलाल जैन, एडवोकेट

सागर (म.प्र.)

आपका साहित्य बहुमूल्य निधि

आदरणीय बड़े दादाजी रतनचन्दजी भारिल्ल

मुझे ज्ञात हुआ है कि - आपकी सामान्य श्रावकाचार एवं 'इन भावों का फल क्या होगा' पुस्तकें सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर के पाठ्यक्रम में समिमलित हुई हैं, एतदर्थ आपको बधाई।

आपका साहित्य ही इतना जोरदार है कि बार-बार पढ़ने पर भी नवीन-नवीन लगता है। षट्कारक एवं वस्तुस्वातंत्र्य की प्रतिपादक नीव की पत्थर भी ऐसी ही सुन्दर कृति है, जो मैंने अभी-अभी पढ़ी हैं।

आप दोनों भाइयों ने समाज के लिए जो साहित्य दिया है, वह अमूल्य निधि है।

विशेष क्या लिखूँ।

- डॉ. एम.पी. जैन (एमबीबीएस., एमडी)
सीनियर मेडीकल ऑफिसर, सामुदायिक केन्द्र,
बदरवास, शिवपुरी (म.प्र.)

अत्यन्त सुबोध और सुलभ रचनायें

आदरणीय बड़े दादाजी रतनचन्दजी

जैनपथप्रदर्शक जुलाई २००९ का अंक प्राप्त हुआ। उसमें सम्पादकीय चलते फिरते सिद्धों से गुरु को पढ़ा। वैसे धारावाही रूप से मैं आपकी सभी रचनायें अतिशय गौर से पढ़ता हूँ। आपकी रचना करने की पद्धति अत्यन्त सुसंबद्ध, सुबोध तथा सुलभ होती है तथा वे तत्त्वज्ञान को परोसती हैं। चलते फिरते सिद्धों से गुरु कृति में अनुप्रेक्षा का चिंतन अतिशय उपयुक्त है तथा यथार्थ व तत्त्वज्ञान पोषक है।

- मनोहर मारवड़कर
स्वधर्म १७, महावीर नगर, नागपुर (सौराष्ट्र)

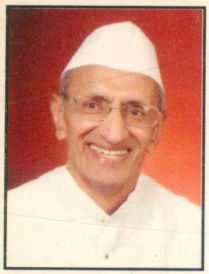

आचार्य अमृतचन्द्र पुरस्कार से पुरस्कृत, सिद्धान्तसूरि एवं शिक्षारत्न आदि उपाधियों से सम्मानित अध्यात्म-रत्नाकर पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल मूर्धन्य विद्वानों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

अगहन कृष्णा अष्टमी वि.सं. 1989 तदनुसार, 21 नवम्बर, 1932 को ललितपुर (उत्तरप्रदेश) जिले के बरौदा स्वामी ग्राम के धार्मिक परिवार में जन्मे पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल स्वर्गीय श्री हरदासजी भारिल्ल के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आप शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न तथा एम.ए., बी.एड. हैं।

सिद्धहस्त तथा लोकप्रिय लेखक होने के साथ आप एक सफल पत्रकार भी हैं। जैनपथप्रदर्शक (पाक्षिक) के आप आद्य सम्पादक हैं, जिसका 1977 से नियमित प्रकाशन हो रहा है। आध्यात्मिक तथा तात्त्विक विषयों को सरल एवं सुबोध लेखन शैली में प्रस्तुत करने की आपकी अद्‌भुत क्षमता है।

आपकी अबतक 26 मौलिक कृतियाँ हैं, जो लाखों की संख्या में जन-जन तक पहुँच कर बिक्री के सारे रिकार्ड तोड़ चुकी हैं। जैन ही नहीं जैनेत्तर भी आपके साहित्य से लाभान्वित होते रहे हैं। इनके सिवाय 21 अनूदित एवं सम्पादित कृतियाँ भी हैं।

निबन्ध शैली में लिखी गई आपकी कृतियाँ शोध शैली में होते हुए भी सरल, सुबोध, सर्वग्राह्य, व्यावहारिक एवं जनोपयोगी हैं। सभी पुस्तकों में नैतिक शिक्षा, आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ पारिवारिक व सामाजिक समस्याओं के समाधान भी सहज मिल जाते हैं।

उपन्यासों के माध्यम से तत्त्वज्ञान कराने की आपकी शैली मिश्री के माध्यम से दवा पिलाने जैसी है। आपके 6 आध्यात्मिक उपन्यास हैं। सभी उपन्यास सर्वाधिक लोकप्रिय हैं।

सम्प्रति में आप टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के प्राचार्य हैं। आप सफल शिक्षाविद् और प्रौढ़ प्रवचनकार भी हैं।